महत्तर श्री धर्मदासगणी विरचिता

श्री उपदेश माला

(हिन्दी अनुवाद)

संपादक

मुनिराज श्री जयानंद विजयजी म.सा.

।। श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथाय नमः ।।

।। प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वराय नमः ।।

महत्तर श्री धर्मदासगणि विरचिता

श्री उपदेश माला

हिन्दी अनुवाद

: दिव्याशीष :

आ. श्री विद्याचन्द्र सूरीश्वरजी

मुनिराज श्री रामचंद्रविजयजी

: हिन्दी अनुवादक :

मु. श्री जयानंदविजयजी

: प्राप्ति स्थान :

शा देवीचंद छगनलालजी
सदर बाजार, भीनमाल
३४३०२९
फोन : (02969) 220387

श्री आदिनाथ राजेन्द्र
जैन पेढी
साँथूं, ३४३०२६
फोन : 254221

श्री विमलनाथ जैन पेढ़ी
बाकरा, राज. ३४३ ०२५

शा नागालालजी वजाजी खींवसरा
शांतिविला अपार्टमेन्ट, तीन बत्ती,
काजी का मैदान, गोपीपुरा, सूरत
फोन : 2422650

महाविदेह भीनमाल धाम
तलेटी हस्तगिरि लिंक रोड,
पालीताणा - ३६४ २७०
फोन : (02848) 243018

: प्रकाशक :

श्रा गुरु रामचंद्र प्रकाशन समिति, भीनमाल, राज.

: संचालक :

(१) सुमेरुमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज.
(२) मीलियन ग्रुप, सूराणा, राज. मुंबई, दिल्ली, विजयवाडा
(३) एम. आर. इम्पेक्स, १६-ए हनुमान टेरेस, दूसरा माला, तारा टेम्पल लेन, लेमीग्टन रोड, मुंबई-७. फोन-२६८०१०८६
(४) श्री शांतिदेवी बाबुलालजी बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट, मुंबई, महाविदेह भीनमालधाम, पालीताना, ३६४२७०.
(५) संघवी जुगराज, कांतिलाल, महेन्द्र, सुरेन्द्र, दिलीप, धीरज, संदीप, राज, जैनम, अक्षत बेटा पोता कुंदनमलजी भुतांजी श्रीश्रीमाळ वर्धमान गौत्रीय आहोर (राज.)
कल्पतरु ज्वेलर्स, ३०५ स्टेशन रोड, संघवी भवन, थाना, (प.)४००६०९
(६) दोशी अमृतलाल चीमनलाल पांचशो वोरा थराद पालीताना में उपधान कराया उसकी साधारण की आय में से।
(७) शत्रुंजय तीर्थे नव्वाणुं यात्रा के आयोजन निमित्ते शा. जेठमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, प्रेमचंद, गौतमचंद, गणपतराज, ललीतकुमार, विक्रमकुमार, पुष्पक, विमल, प्रदीप, चिराग, नितेष बेटा-पोता कीनाजी संकलेचा परिवार मेंगलवा, फर्म - अरिहन्त नोवेल्हटी, GF3 आरती शोपींग सेन्टर, कालुपुर टंकशाल रोड, अहमदाबाद.
(८) थराद निवासी भणशाळी मधुबेन कांतिलाल अमुलखभाई परिवार
(९) शा कांतिलाल केवलजी गांधी सियाना निवासी द्वारा २०६२ में पालीताना में उपधान करवाया उस समय साधारण की आय से।
(१०) लहेर कुंद ग्रुप
शा जेठमलजी कुंदनमलजी मेंगलवा (जालोर)

(११) २०६३ में चातुर्मास एवं उपधान करवाया उस समय पद्मावती सुनाने के उपलक्ष में शा चंपालाल जयंतिलाल, सुरेशकुमार, भरतकुमार प्रिन्केश, केनित, दर्शित चुन्नीलालजी मकाजी कासम गौत्र त्वर परिवार गुड़ा बालोतान्
'जय चिंतामणी' १०-५४३ संतापेट नेल्लूर (A.P.)।

(१२) पू. पिताश्री पूनमचंदजी मातुश्री भुरीबाई के स्मरणार्थे
पुत्र पुखराज, पुत्रवधु लीलाबाई पौत्र फुटरमल, महेन्द्रकुमार, राजेन्द्रकुमार, अशोककुमार, मिथुन, संकेश, सोमील, बेटा पोता परपोता शा पूनमचंदजी भीमाजी रामाणी गुडाबालोतान्
नाकोडा गोल्ड, ७० कंसारा चाल, बीजा माले, रुम नं ६७, कालबादेवी, मुंबई नं.२.

(१३) श्रीमती सकुदेवी सांकलचंदजी नेथीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज. राजेन्द्र ज्वेलर्स, ४ रहेमान भाई बि.एस.जी. मार्ग, ताडदेव, मुंबई-३४

(१४) स्व. हस्तीमलजी भलाजी नागोत्रा सोलंकी स्मृति में
हस्ते परिवार बाकरा (राज.)

(१५) शा दूधमल, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता
लालचंदजी मांडोत परिवार बाकरा (राज.) मंगल आर्ट, दोशी बिल्डींग, ३-भोईवाडा, भूलेश्वर, मुंबई-२

(१६) कटारीया संघवी लालचंद रमेशकुमार, गोतमचंद, दिनेशकुमार, महेन्द्रकुमार, रवीन्द्रकुमार बेटा पोता सोनाजी भेराजी धाणसा (राज.)
श्री सुपर स्पेअर्स, ११-३१-३ A पार्क रोड, विजयवाडा

(१७) गुलाबचंद राजकुमार छगनलालजी कोठारी अमेरीका, आहोर (राज.)

(१८) शा शांतिलाल, दीलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अखीलकुमार बेटा पोता मूलचंदजी उमाजी तलावत आहोर (राज.)
राजेन्द्र मार्केटींग, पो.बो. नं. १०८, विजयवाडा.

(१९) शा समरथमल सुकराज, मोहनलाल महावीरकुमार, विकासकुमार, कमलेश, अनिल, विमल, श्रीपाल, भरत फोला मुथा परिवार सायला (राज.)
अरुण एन्टरप्राइजेस, ४ लेन, ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.

(२०) शा सुमेरमल, मुकेशकुमार, नितीन, अमीत, मनीषा, खुशबु बेटा

पोता पेराजमलजी प्रतापजी रतनपुरा बोहरा परिवार, मोदरा (राज.)
राजरतन गोल्ड प्रोड., के.वी.एस. कोम्पलेक्ष, ३/१ अरुंडलपेट, गुन्टूर

(२१) शा नरपतराज, ललीतकुमार महेन्द्र, शैलेष, निलेष, कल्पेश, राजेश, महीपाल, दिक्षीत, आशीष, केतन, अश्वीन, रींकेश, यश बेटा पोता खीमराजजी थानाजी कटारीया संघवी आहोर (राज.)
कलांजली ज्वेलर्स, ४/२ ब्राडी पेठ, गुन्टूर-२.

(२२) शा तीलोकचंद मयाचंद एन्ड कं. ११६, गुलालवाडी, मुंबई-४

(२४) शा लक्ष्मीचंद, शेषमल, राजकुमार, महावीरकुमार, प्रवीणकुमार, दीलीपकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता प्रतापचंदजी कालुजी कांकरीया मोदरा (राज.) गुन्टूर

(२४) शांतिरुपचंद रवीन्द्रचंद्र, मुकेश, संजेश, ऋषभ, लक्षित, यश, ध्रुव, अक्षय बेटा पोता मिलापचंदजी मेहता, जालोर-बेंग्लोर

(२५) एक सद्‌गृहस्थ (खापरौद)

(२६) शा भंवरलाल जयंतिलाल, सुरेशकुमार, प्रकाशकुमार, महावीरकुमार श्रेणिककुमार, प्रितम, प्रतीक, साहिल, पक्षाल बेटा पोता - परपोता शा समरथमलजी सोगाजी दुरगाणी बाकरा (राज.)
जैन स्टोर्स, स्टेशन रोड, अंकापाली-५३१००१.

(२७) शा गजराज, बाबुलाल, मीठालाल, भरत, महेन्द्र, मुकेश, शैलेष, गौतम, नीखील, मनीष, हनी बेटा पोता, रतनचंदजी, नागोत्रा सोलंकी साँथू (राज.)
फूलचंद भंवरलाल, १०८ गोवींदाप्पा नायक स्ट्रीट, चैन्नई-१.

(२८) शेठ माँगीलाल, मनोहरमल, बाबुलाल जयंतिलाल जुठमल बेटा-पोता सुमेरमलजी कुन्दनमलजी लुंकड
गोल उमेदाबाद (राज.)

(२९) भंसाली भंवरलाल, अशोककुमार, कांतिलाल, गौतमचंद, राजेशकुमार, राहुल, आशीष, नमन, आकाश, योगेश, बेटा पोता लीलाजी कसनाजी
मु. सरत. मंगल मोती सेन्डीकेट, १४/१५ एस. एस. जैन मार्केट, एम. पी. लेन, चीक पेट क्रोस, बेंग्लोर ५३.

।। श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ।।
।। प्रभु श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वराय नमः ।।
।। महत्तर श्री धर्मदासगणिविरचिता ।।

श्री उपदेश माला

नमिऊण जिणवरिंदे, इंदनरिंदच्चिए तिलोअगुरु ।
उवएसमालमिणमो, वुच्छामि गुरुवएसेणं ।।१।।

तीनों जगत के गुरु, देवेन्द्र और नरेन्द्रों से पूजित श्री जिनेश्वर भगवंतों को नमस्कार कर मैं (श्री धर्मदासजी गणि) सद्गुरु उपदेशानुसार इस उपदेशमाला को कहूँगा ।।१।।

जगचूडामणिभूओ, उसभो वीरो तिलोअसिरितिलओ।
एगो लोगाइच्चो, एगो चक्खू [1]तिहुयणस्स ।।२।।

तीन जगत के मुकुट समान प्रथम ऋषभदेव और तीन जगत की लक्ष्मी के तिलक समान वीर स्वामी इनमें एक ऋषभदेव पंचास्तिकाय रूप लोक में सूर्य समान सर्व प्रकार से मार्ग दर्शक होने से अंतिम श्री वीर विभु तीन भुवन में नेत्र तुल्य त्रिभुवन के लोगों को ज्ञान दाता होने से [उनको मैं नमस्कार करता हूँ।] ।।२।।

संवच्छरमुसभजिणो, छम्मासा वद्धमाणजिणचंदो ।
इअ विहरियानिरसणा, जएज्ज एओवमाणेणं ।।३।।

ऋषभदेवजी एक वर्ष पर्यंत आहार के बिना विचरें और महावीर प्रभु छ महीने तक आहार के बिना विचरें। उपदेशमालाकार कहते है कि हे मुनि तूं भी इस प्रकार इन के दृष्टांत से तप करने में उद्यमवंत बन ।।३।।

धर्मदास गणि ने मंगलाचरण में प्रथम और अंतिम जिनेश्वर की स्तुति स्तवनाकर मध्यम बाईस तीर्थंकरों की भी स्तुति कर दी है।

स्तुति में भी भगवंत के अतिशयों का वर्णन दे दिया है। देवेन्द्रों से पूजित शब्द से पूजातिशय, मार्गदर्शक से वचनातिशय, नेत्र तुल्य से ज्ञानातिशय और इन तीनों का वर्णन आने से अपायापगमातिशय आ ही गया है।

तृतीय गाथा में भगवंत के तप का वर्णनकर साधु के जीवन में, उपलक्षण से श्रावक के जीवन में भी तप का महत्त्व विशेष होना चाहिए यह दर्शाया है।

1. तिहुअणजणस्स।

जइ ता तिलोअनाहो, विसहइ बहुआइं असरिसजणस्स ।
इयं जीयंतकराइं, एस खमा सव्वसाहूणं ॥४॥

त्रिलोक के नाथ श्री वीर प्रभु ने निम्न से निम्न व्यक्तियों के द्वारा मारणांतिक उपसर्ग अगर सहन किये हैं तो उनकी परंपरा के सभी साधु साध्वीयों को तो ऐसी क्षमा धारण करनी ही चाहिए ।।४।।

साधु का मूलभूत विशेषण 'क्षमाश्रमण' है। क्षमा के लिए श्रम करनेवाला साधु। अतः साधु के जीवन में क्षमा का तत्त्व अस्थि मज्जा तक समाया हुआ होना चाहिए। 'असरिसजणस्स' शब्द का प्रयोगकर कहा है कि सर्वोत्कृष्ट शक्ति संपन्न वीर विभु ने ऐसे-वैसे व्यक्ति के द्वारा कृत उपसर्ग सहन किये हैं तो साधु को कोई कुछ भी कह दे तो उसे सहन करना उसका परम कर्तव्य होना चाहिए।

वर्तमान के साधु-साध्वीयों को गृहस्थों के द्वारा, श्रावकों के द्वारा किसी भी प्रकार के उपसर्गो का लगभग कोई प्रसंग ही नहीं आता। परंतु साधु-साध्वीयों को आपस में ही सहयोगियों से कभी-कभी शब्दादि सुनायी देते हैं तो उस समय 'समणोऽहं' सूत्र को याद कर लिया जाय तो क्षमा भाव सहज सुलभ आ जाता है।

वैसे ही श्रावक-श्राविकाओं को भी वीर विभु की संतान के नाते क्षमा भाव को धारण करना चाहिए।

न चइज्जइ चालेउं, महइ महावद्धमाणजिणचंदो ।
उवसग्गसहस्सेहिं वि, मेरू जहा वायगुंजाहिं ॥५॥

देवता ने परीक्षा कर दिया हुआ वीर नाम धारण करने वाले वीर विभु को हजारों प्रकार के उपसर्गों द्वारा चलायमान नहीं कर सके। चलायमान होंगे भी कैसे? क्या प्रबलवायु मेरुपर्वत को चलायमान कर सकता है? नहीं, वैसे ही भगवंत को भी कोई ध्यान से चलायमान नहीं कर सका ।।५।।

भद्दो विणीयविणओ, पढमगणहरो समत्तसुअनाणी ।
जाणंतो वि तमत्थं, विम्हियहियओ सुणइ सव्वं ॥६॥

कल्याण करने वाले, मंगलरूप, विनय से विनीत और संपूर्ण श्रुतज्ञानी प्रथम गणधर श्री गौतम स्वामी संपूर्ण श्रुत को जानते हुए भी रोमांचित होकर आश्चर्य पूर्ण हृदय से विकसीत नयनवाले होकर जिन वाणी का श्रवण करते थे ।।६।।

इस दृष्टांत से यह सूचित किया कि सद्गुरु भगवंत द्वारा दी जानेवाली

देशना, वाचना साधु-साध्वीयों को और श्रावक श्राविकाओं को प्रफुल्लित हृदय से सुननी चाहिए। उस समय मेरे पूर्व कृत प्रबल पुण्य का उदय हुआ है जिससे मुझे जिनवाणी श्रवण का सुअवसर प्राप्त हुआ है। मैं प्रबल पुण्यशाली हूँ ऐसा चिंतन भी होना चाहिए।

इसका अर्थ यह भी नहीं कि चाहे जैसे मुनि की देशना सुनी जा सकती है। जिनशासन में जिनवाणी किसके पास सुननी उसके लिए कड़क नियम बताये गये हैं। इस विषय में स्वयं उपदेश मालाकार ने आगे के श्लोकों में व्याख्या की है।

जं आणवेइ राया, पगइओ तं सिरेण इच्छंति ।
इअ गुरुजणमुहभणिअं, कयंजलिउडेहिं सोयव्वं ॥७॥

जिस प्रकार सप्तांग स्वामी [1]राजा जो आज्ञा करता है, उसकी आज्ञा को प्रजाजन एवं राज्य सेवक अंजलीबद्ध होकर मस्तक पर आज्ञा चढ़ाकर स्वीकार करने की इच्छा करते हैं वैसे ही चतुर्विध संघ को सद्गुरु मुख से प्रस्फुटित वचनों को हाथ जोड़कर अंजलीबद्ध होकर सुनना चाहिए। इससे **साधु के लिए विनय ही प्रधान** है ऐसा दर्शाया ॥७॥

जिन शासन में **"विणयमूलो धम्मो"** सूत्र देकर चतुर्विध संघ के लिए विनय की प्रधानता प्रस्थापित की है।

जह सुरगणाणं इंदो, गहगणतारागणाण जह चंदो ।
जह य पयाण नरिंदो, गणस्स वि गुरु तहाणंदो ॥८॥

जैसे देवसमूह में इन्द्र श्रेष्ठ, मंगलादि ८८ ग्रह, अभीची आदि नक्षत्र, कोटाकोटी ताराओं रूपी ज्योतिषी देवों में चंद्र श्रेष्ठ है और प्रजाजनों में राजा श्रेष्ठ है और उनकी आज्ञा सभी आनंद पूर्वक स्वीकार करते हैं। इन्द्र, चंद्र और राजा सभी आनंद दायक है वैसे सद्गुरु भी साधु समूह को आनंद दायक है ॥८॥

बालुत्ति महीपालो, न पया परिभवइ एस गुरुउवमा ।
जं वा पुरओ काउं, विहरंति मुणी तहा सो वि ॥९॥

वय में बाल होने पर भी उस राजा का पराभव तिरस्कार प्रजा नहीं करती, वह सभी को मान्य होता है। वही उपमा आचार्य को हैं। गच्छ के अधिपति पद पर गीतार्थ होता है वह उम्र में बाल हो तो भी उसकी आज्ञा

1. 'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च' अमरकोष--राजा, मंत्री, मित्र, कोष, देश, किल्ला और सैन्य ये राजा के सात अंग है।

पालन रूपी विनय तो करना ही हैं, साथ में ग्रंथकार ने एक बात का विशेष स्पष्टीकरण किया कि जिसकी निश्रा में विहार किया जाता है वह आचार्य न भी हो, गुरु न भी हो तो भी उसका उसी प्रकार विनय करना चाहिए। तो जिनकी निश्रा में विहार किया जा रहा है वे गुरु हो, आचार्य हो तो "विशेषेणमान्यः" विशेष प्रकार से माननीय है ।।९।।

आचार्य कैसे होतें है-उनके गुणों का संक्षेप में वर्णन किया है।

पडिरूवो तेयस्सी, जुगप्पहाणागमो महुरवक्को ।
गंभीरो धिइमंतो, उवएसपरो अ आयरिओ ।।१०।।

गुणों की प्रधानता से तीर्थंकरों के प्रतिरूप, (तीर्थंकर अवतार) या शरीर की सुंदर आकृतिवाले, तेजस्वी, वर्तमान समय के आगमों के ज्ञाता, मधुरभाषी, गंभीर, धैर्यवान्-निश्चल चित्तवाले, सदुपदेश से मार्गप्रवर्तक ।।१०।।

अप्परिसावी सोमो, संगहसीलो अभिग्गहमई य ।
अविकत्थणो अचवलो, पसंतहियओ गुरू होइ ।।११।।

दूसरों की गुप्त बातें किसी को नहीं बताने वाले, दर्शन मात्र से आनंदकारी सौम्यआकृति वाले, (वचन में तो विशेष सौम्य) शिष्यादि के लिए वस्त्र, पात्रादि के यथायोग्य संग्रहकारी, द्रव्य, क्षेत्र काल भाव को देखकर अभिग्रह करने करवाने वाले, अविकथक-अल्पभाषी, स्व प्रशंसा से दूर, अचपल-स्थिर स्वभावी, प्रशांत हृदयी-क्रोधादि स्वभाव से रहित, शांतमूर्ति, ऐसे सद्गुरु भगवंत आचार्य होते हैं ।।११।।

शासन किन से चल रहा है उसे दर्शाते हैं।

कइयावि जिणवरिंदा, पत्ता अयरामरं पहं दाउं ।
आयरिएहिं पवयणं, धारिज्जइ संपयं सयलं ।।१२।।

तीर्थंकर परमात्मा तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूपी मोक्ष मार्ग बताकर कितने ही समय पूर्व सिद्धिपद, अजरामर पद को प्राप्त हो गये हैं। वर्तमान में उनके विरह में श्रुतज्ञान रूपी प्रवचन और चारित्र रूपी आराधक चतुर्विध संघ को स्थिर रखने वाले आचार्य ही हैं। तिर्थंकरों के विरह काल में आचार्य ही सकल संघ के प्रवर्तक हैं ।।१२।।

अब साध्वीयों को विनयोपदेश दे रहे हैं—

अणुगम्मई भगवई, रायसुअज्जा सहस्सविंदेहिं ।
तहवि न करेइ माणं, परियच्छइ तं तहा नूणं ।।१३।।

राजपुत्री, भगवती साध्वी आर्या चंदना हजारों लोगों से सेवित (सहस

गमें टोलें परवरी) फिर भी मान नहीं करती, क्योंकि वह जानती है कि यह प्रभाव ज्ञान-दर्शन चारित्रादि गुणों का है, मेरा नहीं। इस प्रकार अन्य साध्वीयों को भी गर्व नहीं करना चाहिए ।।१३।।

दिणदिक्खियस्स दमगस्स, अभिमुहा अज्जचंदणा अज्जा।
नेच्छइ आसणगहणं, सो विणओ सव्वअज्जाणं ।।१४।।

एक दिन के दीक्षित द्रमक साधु के सामने ३६ हजार साध्वीयों की स्वामिनी चंदना आसन पर बैठना भी अविनय समझती है अतः ऐसा विनय सभी साध्वीयों को करना चाहिए ।।१४।।

वरिससयदिक्खियाए, अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू ।
अभिगमणवंदणनमंसणेण विणएण सो पुज्जो ।।१५।।

सो वर्ष की दीक्षित साध्वी को आज का दीक्षित साधु के सामने जाकर वंदन-नमस्कारकर आसन प्रदानकर विनय पूर्वक पूजने योग्य है ।।१५।।

धम्मो पुरिसप्पभवो, पुरिसवरदेसिओ पुरिसजिट्ठो ।
लोए वि पहू पुरिसो, किं पुण? लोगुत्तमे धम्मे ।।१६।।

दुर्गति में गिरते आत्मा को बचाने वाला जो धर्म वह पुरुषों से उत्पन्न है पुरुष गणधर और पुरुषवर तीर्थंकर प्रभु से उपदेशित ऐसा श्रुत-चारित्र रूपी धर्म पुरुषों से प्ररूपित होने से पुरुष ज्येष्ठ है। लोगों में भी पुरुषों का ही प्रभुत्व है मालिक पुरुष ही होता है तो फिर लोकोत्तर धर्म में पुरुष की प्रधानता का तो कहना ही क्या? ।।१६।।

पति के परलोक जाने पर भी उसके पुत्र पिता का नाम ही लिखतें हैं माता का नहीं। इससे भी पुरुष प्रधानता ही सिद्ध होती है।

संवाहणस्स रन्नो, तइया वाणारसीएनयरीए ।
कन्नासहस्समहियं, आसी किर रूववंतीणं ।।१७।।
तहवि य सा रायसीरी, उल्लट्टंती न ताइया ताहिं ।
उयरट्ठिएण एक्केण, ताइया अंगवीरेण ।।१८।।

पूर्वकाल में 'वाराणसी' के राजा संवाहन राजा को रूपवंती एक हजार कन्याएँ थी ऐसा सुना जाता है। [राजा की आकस्मिक मृत्यु होने पर वारस के अभाव में दूसरे राजा राज्य पर कब्जा करने आये] उस समय राज्य लक्ष्मी को लूँटती हुई वे कन्याएँ रक्षा न कर सकी परंतु पट्टराणी के उदर में गर्भस्थ पुत्र अंगवीर्य ने राज्य लक्ष्मी का संरक्षण किया ।।१७-१८।।

इससे पुरुष ही प्रधान है। यह सिद्ध होता है।

महिलाण सुबहुयाण वि, मज्झाओ इह समत्थघरसारो ।
रायपुरिसेहिं निज्जइ, जणे वि पुरिसो जहिं नत्थि ॥१९॥

जिस घर में पुरुष नहीं है (मुख्य पुरुष की मृत्यु हो गयी है) उस घर में अनेक स्त्रियाँ (उसकी पत्नियाँ हो) हों तो भी उस घर का सर्वस्व (धनादि) राज पुरुष ले जाते हैं। इस उदाहरण से भी पुरुष की प्रधानता सिद्ध की है ॥१९॥

आराधना आत्मसाक्षी से करने का विधान बताते हैं—

किं परजणबहुजाणावणाहिं, वरमप्पसक्खियं सुकयं ।
इह भरहचक्कवट्टी, पसन्नचंदो य दिट्ठंता ॥२०॥

स्वयं को आत्म हितार्थ जो अनुष्ठान करना है वह दुसरों को बताने की क्या आवश्यकता है? आत्म साक्षी से ही अनुष्ठान सुकृत करना हितावह है, यहाँ भरत चक्रवती और प्रसन्नचंद्र का उदाहरण प्रख्यात है ॥२०॥

वेसोवि अप्पमाणो, असंजमपएसु वट्टमाणस्स ।
किं परियत्तियवेसं, विसं न मारेइ खज्जंतं? ॥२१॥

छ काय की विराधनादि स्वरूप असंयम स्थानों में प्रवृत्त साधु का रजोहरणादि वेष अप्रमाण है क्योंकि केवल वेष से आत्म शुद्धि नहीं होती। यहाँ दृष्टांत दिया कि क्या एक वेष को छोड़कर दूसरा वेष धारण करनेवाले को कालकूट विष नहीं मारता? मारता ही है। वैसे संक्लिष्ट चित्त रूप विष वेषधारी साधु की दुर्गति करता ही है ॥२१॥

यहाँ इस वर्णन को श्रवणकर क्रिया प्रति अरूचि वाले, कष्ट से भागने वाले यह कहेंगे कि साधु बनने की क्या आवश्यकता है केवल भाव शुद्धि से ही हमारा कल्याण हो जायगा। उनको प्रत्युत्तर देते हुए वेष की महत्ता भी दर्शायी है—

धम्मं रक्खइ वेसो, संकइ वेसेण दिक्खिओमि अहं ।
उम्मग्गेण पडंतं, रक्खइ राया जणवउव्व ॥२२॥

वेष भी धर्म का हेतु होने से प्रधान है, चारित्र रूपी धर्म की रक्षा वेष करता है। वेष के कारण पाप कार्य में उसे संकोच लज्जा का अनुभव होता है, मैं दीक्षित हूँ, मुझे ऐसा करना शोभास्पद नहीं है, इस प्रकार उन्मार्ग प्रथित आत्मा को वेष बचाता है। उदाहरण दिया कि—जैसे राजा के भय सें लोग उन्मार्ग की प्रवृत्ति से रूक जाते हैं वैसे ही वेष से उन्मार्ग से आत्मा बच सकता है ॥२२॥

अप्पा जाणइ अप्पा, जहट्ठिओ अप्पसक्खिओ धम्मो ।
अप्पा करेइ तं तह, जह अप्पसुहावओ होइ ॥२३॥

आत्मा ही स्वयं को यथावस्थित् जैसा है वैसा, शुभ या अशुभ परिणाम युक्त है उसे स्वयं आत्मा ही जानता है, दूसरों के लिए चित्तवृत्ति अलक्ष्य होने से। अतः धर्म आत्मसाक्षीक है, स्वतः वैद्य है। अतः हे आत्मन्! धर्म निष्कपट भाव से वैसा कर जिससे आत्मा इस और परभव में सुखी बनें ॥२३॥

जं जं समयं जीवो, आविसइ जेण जेण भावेण ।
सो तंमि तंमि समए, सुहासुहं बंधए कम्मं ॥२४॥

आत्मा जिस-जिस समय में सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम भावों में अध्यवसायों में प्रवृत्त होता है, आसक्त होता है। उस-उस समय में वैसा परिणमन होता हुआ शुभ-अशुभ कर्म बांधता है। शुभ परिणाम से शुभ, अशुभ परिणाम से अशुभ। अतः सतत शुभ परिणाम में ही रहना चाहिए। गर्व-अभिमानादि के परिणाम नहीं आने चाहिए ॥२४॥

गर्वादि से धर्म दूषित हो जाता है उसका फल नहीं मिलता यह आगे की गाथा में दर्शाते हैं—

धम्मो मएण हुंतो, तो नवि सीउण्हवायविज्झडिओ ।
संवच्छरमणसिओ, बाहुबली तह किलिस्संतो ॥२५॥

जो धर्म गर्व से हो जाता होता तो बाहुबली एक वर्ष तक अनाहारी रहकर शीत, उष्ण, वायु आदि तीनों ऋतु के कष्ट सहन करते हुए को ज्ञान हो जाता। उनके छोटे भाई केवलज्ञान वाले थें बाहुबली मुनि ने सोचा छोटे भाई जो दीक्षित है उन्हें मैं वंदन कैसे करूं? इस गर्व से संवत्सर तक स्थित रहे थे पर केवलज्ञान न हुआ। जब वंदन के लिए पैर उठाया तो केवल ज्ञान प्रकट हो गया ॥२५॥

नियगमइविगप्पिय चिंतिएण, सच्छंदबुद्धिचरिएण ।
कत्तो? पारत्तहियं, कीरइ गुरुअणुवएसेणं ॥२६॥

जो सद्‌गुरु के उपदेश के बिना स्वमति कल्पना से तत्त्वातत्त्व का विचारकर, स्वच्छंद बुद्धि से आचरणा करे उसका पारलौकिक हित कैसे होगा? अर्थात् स्वहित के लिए स्वच्छंद मति का त्याग आवश्यक है।

वर्तमान साधु संघ में स्वच्छंद मति अनेक प्रकार से फल फूल रही है और अनेक नयी-नयी आचरणाएँ धडल्ले से बढ़ रही है। कहीं कहीं

अपवाद ने अनाचार का रूप भी ले लिया है। ज्ञानी ही बच सकेंगे ऐसी आचरणाओं से ।।२६।।

थद्धो निरुवयारी अविणीओ, गव्विओ निरुवणामो ।
साहुजणस्स गरहिओ, जणे वि वयणिज्जयं लहइ ।।२७।।

अभिमान से अक्कड, कृतघ्न, अविनीत, गर्विष्ठ (स्वप्रशंसक), गुरु को भी वंदन न करने वाला और इन दुर्गणों से सज्जनों में निंद्य व्यक्ति जन समाज में भी निम्नता पाता है ।।२७।।

थोवेण वि सप्पुरिसा, सणंकुमार व्व केइ बुज्झंति ।
देहे खणपरिहाणी, जं किर देवेहिं से कहियं ।।२८।।

कितनेक आत्मा छोटे से निमित्त को पाकर सनत्कुमार चक्री के समान बोध पा जाते हैं। जैसे कि दो देवों ने उनसे कहा कि क्षण मात्र में शरीर विकृत हो जाता है। और इतने कथन मात्र से वे प्रतिबुद्ध होकर प्रवज्या लेकर घर से निकल गये ।।२८।।

जइ ताव लवसत्तम सुरा, विमाणवासी वि परिवडंति सुरा।
चिंतिज्जंतं सेसं, संसारे सासयं कयरं? ।।२९।।

देवायु में अति दीर्घ आयुवाले 'लवसत्तमिया' (अनुत्तर विमानवासी देव) देवों को भी अपने स्थान से च्यवन होना पड़ता है तो इस संसार में शाश्वत स्थान कहाँ है? अतः धर्म ही शाश्वत है ।।२९।।

कह तं भण्णइ सोक्खं? सुचिरेण वि जस्स दुक्खमल्लियइ।
जं च मरणावसाणे, भवसंसाराणुबंधि च ।।३०।।

(इसी कारण) उसे सुख ही कैसे कहा जाय? कि दीर्घ काल के पश्चात् भी दुःख आ जाय! और वह मृत्यु पर्यंत रहे और जो भव में परिभ्रमण की परंपरा युक्त हो। वस्तुतः भौतिक सुख दुःख ही है ।।३०।।

उवएससहस्सेहिं वि, बोहिज्जंतो न बुज्झइ कोई ।
जह बंभदत्तराया, उदाइनिवमारओ चेव ।।३१।।

कोई बहुलकर्मी जीव हजारों युक्तियों से उपदेश करने पर भी बोधित नहीं होता। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती एवं उदायी नृपमारक विनयरत्न नामक साधु के समान ।।३१।।

गयकन्नचंचलाए, अपरिचत्ताए रायलच्छीए ।
जीवा सकम्मकलिमल-भरियभरा तो पडंति अहे ।।३२।।

हाथी के कर्ण समान चंचल राज्य लक्ष्मी का त्याग नहीं किया तो जीव उस (लक्ष्मी की) की मूर्च्छा से संग्रहित स्वयं के पाप रूप कर्म कचरे से भारी होकर नरक में गिरता है ।।३२।।

वोत्तूण वि जीवाणं, सुदुक्कराइंति पावचरियाइं ।
भयवं जा सा सा सा, पच्चाएसो हु इणमो ते ।।३३।।

जीवों द्वारा आचरित कितने ही पाप ऐसे है जो सभा में कहने भी दुष्कर होते हैं। इसका उदाहरण यह कि वीर परमात्मा ने एक पृच्छक के जा सा सा सा इस प्रश्न के उत्तर में वही उत्तर देकर समाधान किया (क्योंकि वह पाप प्रकट कहने जैसा नहीं था।) ।।३३।।

पडियज्जिऊण दोसे, नियए सम्मं च पायपडियाए ।
तो किर मिगावईए उप्पन्नं केवलं नाणं ।।३४।।

गुरुणी चंदन् बाला के द्वारा स्वयं की भूल स्वीकृत करने वाली आर्या मृगावती गुरुणीजी के पैरों में मस्तक नमाकर क्षमा याचना करते केवलज्ञान प्राप्त किया ।।३४।।

आत्मार्थि को हरेक प्रकार से गुरु का विनय करना चाहिए।

किं सक्का? वोत्तुं जे, सरागधम्मंमि कोइ अकसाओ ।
जो पुण धरेज्ज धणियं, दुव्वयणुज्जालिए स मुणी ।।३५।।

क्या सराग संयमी और अकषायी ऐसा कह सकते हैं? नहीं, तो भी मुनि वही जो अनिष्ट वाक्य से प्रज्वलित कषाय के उदय को रोकता है या उसे निष्फल बनाता है ।।३५।।

कडुयकसायतरुणं पुप्फं, च फलं च दोवि विरसाइं ।
पुप्फेण झाइ कुविओ, फलेण पावं समायरइ ।।३६।।

क्योंकि वह मुनि मानता है कि कटु कषाय रूपी वृक्ष के पुष्प और फल दोनों कटु है। क्रोधित कषाय के पुष्प रूप में अन्य का अहित चिंतन और फल रूप में ताड़ना आदि पाप करता है। अतः कषाय और उसके निमित्त भूत विषयों का त्याग करना चाहिए ।।३६।।

संते वि कोवि उज्जइ, कोवि असंते वि अहिलसइ भोए।
चयइ परपच्चएण वि, पभवो दट्ठूण जह जंबुं ।।३७।।

कोई विवेकी आत्मा आर्य जंबू कुमार के समान भोगों को छोड़ता है और कोई अविवेकी प्रभव चोर के समान भोग सामग्री प्राप्त करने की इच्छा

करता है। (किन्तु समर्थ त्यागी का आलंबन लेकर सर्वस्व त्याग में आना) जैसे जंबू कुमार के त्याग को देखकर प्रभव भी त्याग मार्ग को अपनाने वाला बना ।।३७।।

दीसंति परमघोरा वि, पवरधम्मप्पभावपडिबुद्धा ।
जह सो चिलाइपुत्तो, पडिबुद्धो सुंसुमाणाए ।।३८।।

अत्यंत भयंकर आचरण करने वाले भी अरिहंत कथित श्रेष्ठ धर्म के महात्म्य से बोधित बने दिखायी देते हैं। जैसे सुसुमा के दृष्टांत में चारण मुनि के धर्म और धर्म वचन को प्रासकर वह पापी चिलाती पुत्र प्रतिबोधित हुआ ।।३८।।

पुप्फियफलिए तह पिउघरंमि, तण्हाछुहासमणुबद्धा ।
ढंढेण तहा विसढा, विसढा जह सफलया जाया ।।३९।।

पिता कृष्ण का घर खान-पानादि भोग साधनों से भरपुर और भोग विलास से पूर्ण होने पर भी महात्मा ढंढण ने क्षुधापिपासादि परिषह की ऐसी तितिक्षा की, ऊन परिषहों का ऐसा सत्कार किया कि वे सत्कारित परीषह केवलज्ञान दाता बनें ।।३९।।

आहारेसु सुहेसु अ, रम्मावसहेसु काणणेसु च ।
साहूण नाहिगारो, अहिगारो धम्मकज्जेसु ।।४०।।

सुंदर आहार, सुंदर सुख, सुंदर स्थान, सुंदर उद्यान और सुंदर वस्त्र पात्रादि में आसक्त होने का अधिकार साधु को नहीं है। मात्र तप-स्वाध्याय साध्वाचार आदि धर्मकार्यों में ही उसका अधिकार है ।।४०।।

साहू कंतारमहाभएसु, अवि जणवए वि मुइअम्मि ।
अवि ते सरीरपीडं, सहंति न लहं(यं)ति य विरुद्धं।।४१।।

साधु अटवी या महाभय में हो तो भी वे अनेषणीय आहारादि न लेकर शरीर के कष्ट को सहन कर लेते हैं। किंतु मार्ग-विरुद्ध लेते नहीं, अटवी में भी ग्राम वास के समान निर्भय रहते हैं [शरीर पीड़ा सहकर मानसिकपीड़ा-असमाधि में यतना पूर्वक ग्रहण करे ऐसा सूचित किया ।।४१।।

जंतेहिं पीलियायि हु, खंदगसीसा न चेव परिकुवियया ।
विइयपरमत्थसारा, खमंति जे पंडिया हुंति ।।४२।।

यंत्र में पीले जाने की पीड़ा प्रास हो जाने पर भी स्कंधक सूरि के ५०० शिष्य क्रोधित नहीं हुए। पंडितजन परमार्थ तत्त्व के सार को जानते थें। अतः

सहन करने का ही रखते हैं (आपत्ति में भी धर्म न छोड़ना) ।।४२।।

जिणवयणसुइसकण्णा, अवगयसंसारघोरपेयाला ।
बालाण खमंति जई, जइत्ति किं इत्थ अच्छेरं? ।।४३।।

जिन वचन में श्रोतेन्द्रिय का उपयोग करने में जागृत और संसार की भयंकरता का विचार करने वाले साधु बालिश जन बालबुद्धि वाले दुष्ट जनों के वर्तन को सहन करे इसमें क्या आश्चर्य? ।।४३।।

न कुलं एत्थ पहाणं, हरिएसबलस्स किं कुलं आसी? ।
आकंपिया तवेणं, सुरा वि जं पज्जुवासंति ।।४४।।

धर्म कुलवान ही कर सकता है? ऐसी बात नहीं है। हरिकेश महामुनि को ऊँच कूल कहाँ था? फिर भी उनके तप से आकर्षित बनें देव भी उनकी सेवा में उपस्थित रहकर सेवा करते थें ।।४४।।

देवो नेरइओत्ति य, कीडपयंगु त्ति माणुसो एसो ।
रूवस्सी य विरूवो, सुहभागी दुक्खभागी य ।।४५।।

संसार में परिभ्रमण विकासवाद पर निर्भर नहीं है। किंतु जीव देव होता है, नारकी बनता है, कीट पतंगिया आदि तिर्यंच में भी उत्पन्न होता है। वही आत्मा मनुष्य भी होता है, स्वरूपवान् कुरूप भी होता है सुखभागी एवं दुःख भागी भी होता है ।।४५।।

राउ त्ति य दमगुत्ति य, एस सपागुत्ति एस वेयविऊ ।
सामी दासो पुज्जो, खलो त्ति अधणो धणवइ त्ति।।४६।।

राजा भी भिक्षुक बनता है, वही चंडाल बनता है तो वेदज्ञ ब्राह्मण भी होता है, स्वामी बनता है, दास भी बनता है, पूज्य बनता है, दुर्जन भी बनता है, निर्धन बनता है तो धनवान भी बनता है ।।४६।।

न वि इत्थ को वि नियमो, सकम्मविणिविट्ठसरिसकयचिट्ठो।
अन्नुन्न रूववेसो, नडु व्व परियत्तए जीवो ।।४७।।

यहाँ कोई ऐसा नियम नहीं (कि पशु पशु और मानव मानव ही बनें) किन्तु स्व-स्वकर्मानुसार प्रकृति स्थिति आदि के उदयानुसार वर्तन करता हुआ संसार में नट सदृश अन्यान्य वेश करता हुआ जीव भ्रमण करता है। (अतः संसार का स्वरूप विचारकर विवेकी आत्मा मोक्ष रसिक बनता है, धन रसिक नहीं) ।।४७।।

कोडीसएहिं धणसंचयस्स, गुणसुभरियाए कन्नाए ।
नवि लुद्धो वयररिसी, अलोभया एस साहूणं ।।४८।।

धनावह पिता द्वारा सेकडों क्रोड़ धनराशि सहित गुणगण से युक्त स्वरूपवान् कन्या देते हुए भी आर्य वज्रस्वामी उसमें लोभीत नहीं बनें। साधुओं को ऐसी ही निर्लोभिता रखनी ।।४८।।

अंतेउरपुरबलवाहणेहिं, वरसिरिघरेहिं मुणिवसहा ।
कामेहिं बहुविहेहिं य, छंदिज्जंता वि निच्छंति ।।४९।।

अंतपुर, नगर, लश्कर, हाथी आदि वाहन, अतीव धन भंडार और अनेक प्रकार के शब्दादि विषयों के लिए विनति सुनते हुए भी उत्तम मुनिवर उसकी इच्छा नहीं करते। (क्योंकि परिग्रह और विषय ये अनर्थ का कारण है) ।।४९।।

छेओ भेओ वसणं, आयासकिलेसभयविवागो अ ।
मरणं धम्मब्भंसो, अरई अत्था उ सव्वाइं ।।५०।।

परिग्रह में अनर्थ-शरीर का छेदन, भेदन, चोरी का भय, उसकी प्राप्ति और रक्षा के लिए प्रयास, दूसरों की ओर से क्लेशोत्पत्ति, राजादि का भय, कलह-कंकास, प्राणनाश ज्ञान-चारित्रादि धर्म से भ्रष्टता, उद्वेग-संताप आदि अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ते हैं ।।५०।।

दोससयमूलजालं, पुव्वरिसिविवज्जियं जई वंतं ।
अत्थं वहसि अणत्थं, कीस अणत्थं तवं चरसि? ।।५१।।

अर्थ (धन) यह शताधिक दोषों का मत्स्य जाल सदृश मूल कारण है, और इसी कारण पूर्व महर्षियों ने छोड़ा हुआ और दीक्षित होने के पूर्व वमन किया हुआ यह धन अर्थ नहीं परंतु नरकादि दुर्गति सर्जक होने से अनर्थकर ही है, अतः हे साधु! इसे तूं जो धारण करता है तब तेरा तप निष्फल है तो ऐसा निष्फल तप तूं क्यों करता है? कहने का तात्पर्य है धनार्थी साधु का तपाचरण (भिक्षाचर्या केशलोच विहारादि) निष्फल है ।।५१।।

वहबंधणमारणसेहणाओ, काओ परिग्गहे नत्थि? ।
तं जइ परिग्गहुच्चिय, जइधम्मो तो नणु पवंचो ।।५२।।

परिग्रह में ताडन, बंधन, मरण और कौन-कौन सी कदर्थनाएँ नहीं है? अर्थात् सभी है। और ये परिग्रह से उत्पन्न होती है तो उसे रखकर तेरा साधुवेष जनता को ठगने का एक प्रपंच ही है ।।५२।।

किं आसि नंदिसेणस्स, कुलं? जं हरिकुलस्स विउलस्स।
आसी पियामहो सच्चरिएण वसुदेवनामुत्ति ।।५३।।

पूर्व के नंदिषेण के भव में इसका कौन सा (उत्तम) कुल था कि वह अपने सच्चारित्र से दूसरे भव में कृष्णवासुदेव के विशाल हरिवंश में वसुदेव नाम के दादा बनें। जगत में यह सच्चारित्र का ही प्रभाव है ।।५३।।

विज्जाहरीहिं सहरिसं, नरिंददुहियाहिं अहमहंतीहिं ।
जं पत्थिज्जइ तइया, वसुदेवो तं तवस्स फलं ।।५४।।

रूप से वश बनकर विद्याधरी और राजपुत्रियाँ मैं इनकी पत्नी बनूं, मैं इनकी पत्नी बनूं ऐसी स्पर्धा से अत्यंत हर्ष से उनसे शादि के लिए प्रार्थना करती है यह उनके पूर्वभव के वैयावच्च रूपी तप का ही फल था ।।५४।।

सपरक्कमराउलवाइएण, सीसे पलीविए नियए ।
गयसुकुमालेण खमा, तहा कया जह सिवं पत्तो ।।५५।।

कृष्ण वासुदेव के भाई रूप में अतीव प्यार से पालन पोषण हुआ और अतीव पराक्रमी ऐसे गजसुकुमाल ने अपने मस्तक पर ज्वलित अंगारे भरने वाले पर भी ऐसी क्षमा धारण की कि उस क्षमा के बल से वे मोक्ष पद को प्राप्त हुए। अतः सभी श्रमणों को सफल सिद्धि दायक क्षमा रखनी चाहिए ।।५५।।

रायकुलेसु वि जाया, भीया जरमरणगब्भवसहीणं ।
साहू सहंति सव्वं, नीयाण वि पेसपेसाणं ।।५६।।

राजकुल में जन्मे हुए साधु नीच साधु के भी, दासों के भी दुर्वचन, ताड़मादि सभी सहन करते हैं, क्योंकि वे वृद्धावस्था, मृत्यु और गर्भावास से भयभीत रहते हैं ।।५६।।

पणमंति य पुव्वयरं, कुलया न नमंति अकुलया पुरिसा।
पणओ इह पुव्विं जइ-जणस्स जह चक्कवट्टिमुणी।।५७।।

विशिष्ट कुल में जन्में आत्मा सर्व प्रथम नमन करते हैं। अकुलीन नमनशील नहीं होते, अतः जैन शासन में चक्रवर्ती पद छोड़कर साधु बना हुआ भी एक छोटे साधु को सर्व प्रथम नमन करता है ।।५७।।

जह चक्कवट्टिसाहू, सामाइयसाहुणा निरुवयारं ।
भणिओ न चेव कुविओ, पणओ बहुयत्तणगुणेणं ।।५८।।

जैसे एक सामायिक का उच्चारण किये हुए छोटे अज्ञ साधु ने चक्री साधु को विनयादि मर्यादा रहित शब्दों में कहा (तुम अभिमानी हो-मुनियों को वंदन करना चाहिए) तब उस पर कोप न कर उस मुनि को चक्री मुनि ने भाव पूर्वक प्रथम वंदन किया। (क्योंकि कुलाभिमान और कोप तुच्छ है जब कि

प्रणाम और क्षमा यह उत्तम गुण है) ।।५८।।

ते धन्ना ते साहू, तेसिं नमो जे अकज्जपडिविरया ।

धीरा वयमसिहारं चरंति जह थूलभद्दमुणी ।।५९।।

वे धन्य हैं, वे साधु पुरुष हैं, उनको नमस्कार हो, जो धीर, अकार्य से विरत साधु असिधारा सम व्रत को स्थूलभद्र मुनि के समान अखंडित रूप से पालन करते हैं ।।५९।।

विसयासिपंजरमिव, लोए असिपंजरम्मि तिक्खंमि ।

सीहा य पंजरगया, वसंति तवपंजरे साहू ।।६०।।

स्वयं के व्रतों को निरतिचार पालन करने के लिए जैसे सिंह स्वरक्षार्थे पिंजरे में रहता है वैसे विषय रूपी शस्त्रों से बचने के लिए साधु तप रूपी पींजरे में रहते हैं ।।६०।।

जो कुणइ अप्पमाणं, गुरुवयणं न य लहेइ उवएसं ।

सो पच्छा तह सोअइ, उवकोसघरे जह तवस्सी ।।६१।।

जो गुरु वचन को नहीं मानता, उनके उपदेश को नहीं स्वीकारता वह साधु उपकोशा वेश्या के घर गये हुए सिंह गुफावासी मुनि समान पीछे से पश्चात्ताप करता है ।।६१।।

जेट्ठव्वयपव्वयभर–समुव्वहणववसियस्स, अच्चंतं ।

जुवइजणसंवइयरे, जइत्तणं उभयओ भट्ठं ।।६२।।

महाव्रत रूप पर्वत के भार को वहन करने में ओत प्रोत साधु युवान स्त्री का निकट संबंध करने जाता है तब उसका साधुपना उभय भ्रष्ट हो जाता है। (न वह साधु, न वह गृहस्थ) ।।६२।।

जइ ठाणी जइ मोणी, जइ मुंडी वक्कली तवस्सी वा ।

पत्थन्तो अ अबंभं, बंभावि न रोयए मज्झं ।।६३।।

जो कायोत्सर्गी हो, मौनी हो, मस्तक मुंडित हो, वृक्षछाल के वस्त्र से नग्न प्रायः हो, कठिन घोर तपस्वी हो, ऐसा साधु जो अब्रह्म की इच्छा करे तो वह ब्रह्मा हो तो भी रूचिकर नहीं है ।।६३।।

तो पढियं तो गुणियं, तो मुणियं तो अ चेइओ अप्पा।

आवडियपेल्लियामंतिओ वि जइ न कुणइ अकज्जं ।।६४।।

वही अध्ययन, वही मनन, वही अर्थ को जाना गिना जाय! या आत्मा की पहचान हो गयी कर माना जाय कि वह आत्मा किंसी कुशील के

प्रसंग में फंस जाने पर या पाप मित्रों से अकार्य में प्रेरित करने पर या किसी स्त्री आदि ने अकार्य के लिए प्रार्थना करने पर भी अकार्य का आचरण करे ही नहीं। (अध्ययन का फल अकार्य का त्याग करना ही है) ।।६४।।

पागडियसव्वसल्लो, गुरुपायमूलंमि लहइ साहुपयं ।
अविसुद्धस्स न वड्ढइ, गुणसेढी तत्तिया ठाइ ।।६५।।

(इस हेतु से सिंह गुफावासी मुनि के समान) जो साधु गुरु के चरण समीप में अपने मूल-उत्तर गुण में लगे हुए सभी दोष रूपी शल्यों को बताता है तो अशुभ परिणाम से मुक्त होकर पुनः श्रमणत्व को प्राप्त करता है। कारण कि आलोचना लिये बिना कलुषित चित्तवाले के ज्ञानादि गुणों की परिणति वृद्धि को नहीं पाती। परंतु अपराध के समय में होती है उतनी ही रहती है (उसमें भी दूसरे अनुष्ठान न हो तो वह गुणश्रेणि भी नष्ट हो जाती है) ।।६५।।

जइ दुक्करदुक्करकारओत्ति, भणिओ जहट्ठिओ साहू ।
तो कीस अज्जसंभूअ-विजयसीसेहिं नवि खमिअं? ।।६६।।

(परगुण असहिष्णुता में अविवेक है, नहीं तो) जो गुण स्थूलभद्र मुनि में थे उससे ही दुष्कर-दुष्करकारक गुरु ने कहा था तो आर्य संभूतिविजय के शिष्यों ने (सिंह गुफावासी आदि ने) वे शब्द सहन क्यों नहीं किये? अर्थात् अविवेकता के कारण सहन नहीं किये ।।६६।।

जइ ताव सव्वओ सुंदरुत्ति, कम्माण उवसमेण जइ ।
धम्मं वियाणमाणो, इयरो किं मच्छरं वहइ? ।।६७।।

इस प्रकार कर्मों के उपशम होने से सभी प्रकार से (स्थूलभद्र मुनि) उत्तम थे तो धर्म को समजने वाले दूसरे (सिंह गुफावासी आदि) मुनि ने उन पर मत्सर धारण क्यों किया? अर्थात् अविवेक के अलावा मत्सर करने का कोई कारण नहीं है ।।६७।।

अइसुट्ठिओ त्ति गुणसमुइओ, त्ति जो न सहइ जइपसंसं।
सो परिहाइ परभवे, जहा महापीढ-पीढरिसी ।।६८।।

(दृष्टांत के द्वारा ईर्ष्या के दोषों को कहते हैं) इन-''मूलउत्तर गुणों में दृढ़ हैं, वैयावच्चादि गुण समुदाय युक्त हैं'' ऐसी सच्ची भी अन्य साधु की प्रशंसा जो सहन न करे वह मुनि आने वाले भवों में पीठ-महापीठ मुनियों के सदृश स्त्रीपना आदि निम्न भवों को पाते हैं ।।६८।।

परपरिवायं गिण्हइ, अट्ठमयविरल्लणे सया रमइ ।
डज्झइ य परसिरीए, सकसाओ दुक्खिओ निच्चं ॥६९॥

जो दूसरों की निंदा करता है, वचन से आठ मद के विस्तार में नित्य रमण करता हैं और जो दूसरों की लक्ष्मी देखकर जलता है, उसे निचे गिराना चाहता है, वह उत्कट क्रोधादि से ग्रस्त (मुनि) आत्मा नित्य दुःख संताप में रहता है ।।६९।।

विग्गहविवायरुइणो, कुलगणसंघेण बाहिरकयस्स ।
नत्थि किर देवलोए वि, देवसमिईसु अवगासो ॥७०॥

विग्रह की रूचिवाला होने से सभी साधुओं ने चतुर्विध संघ ने अवंदनीय रूप में संघ बाहर कर दिया हो तो उसे देवलोक में देवों की सभा में भी स्थान नहीं मिलता तात्पर्य यह है कि देवलोक में भी उसे कोई अच्छा स्थान नहीं मिलता ।।७०।।

जइ ता, जणसंववहार-वज्जियमकज्जमायरइ अन्नो ।
जो तं पुणो विकत्थइ, परस्स वसणेण सो दुहिओ॥७१॥

जो कोई व्यक्ति लोक विरुद्ध (जैसे निंदा, चोरी, व्याभिचार आदि) अकार्य करता है (तो वह स्वयं अपने पाप से राजदंड फांसी आदि दुःख से दुःखित होता है) परंतु जो दूसरा व्यक्ति लोक समक्ष उसकी निंदा करता है वह व्यर्थ दूसरे के दुःख से दुःखी होता है। (अर्थात् पापी आत्मा का भी अवर्णवाद नहीं करना) ।।७१।।

सुट्ठु वि उज्जममाणं पंचेव, करिंति रित्तयं समणं ।
अप्पथुई परनिंदा, जिब्भोवत्था कसाया य ॥७२॥

कारण कि तप संयम में उद्यमवंत व्यक्ति भी १. आत्मश्लाघा, २. परनिंदा, ३. जिह्वा, ४. स्पर्शनेन्द्रिय की परवशता और ५. कषाय प्रवृत्ति ये पाँच (दूसरे दुष्कृत्य न हो तो भी) साधु को गुणरहित कर देते हैं ।।७२।।

परपरिवायमईओ, दूसइ वयणेहिं जेहिं जेहिं परं ।
ते ते पावइ दोसे, परपरिवाई इय अपिच्छो ॥७३॥

दूसरों की निंदा करने की प्रवृत्तिवाला, जिन-जिन दोषित वचन से दूसरों का परपरिवाद करता है वे-वे दोष उस व्यक्ति में प्रकट हो जाते हैं अतः परनिंदक का मुख ही अदृष्टव्य है ।।७३।।

थद्धा च्छिद्दप्पेही, अवण्णवाई सयंमई चवला ।
वंका कोहणसीला, सीसा उव्वेअगा गुरुणो ॥७४॥

गुरु के सामने भी अक्कड रहनेवाला, गुरु के छिद्र देखने वाला, गुरु की निंदा करने वाला, स्वच्छंद मति से चलने वाला अस्थिर चित्तवाला, (दृष्टांत - दूसरे-दूसरे शास्त्रों का अंश लेकर चलने वाला, गात्रों को इधर उधर फिराने वाला) वक्र, क्रोधी स्वभाव वाले ऐसे शिष्य गुरु को उद्वेग करवाने वाले होते हैं ।।७४।।

जस्स गुरुम्मि न भत्ती, न य बहुमाणो न गउरवं न भयं।
नवि लज्जा नवि नेहो, गुरुकुलवासेण किं तस्स? ।।७५।।

जिस में गुरु भक्ति नहीं, बहुमान नहीं, पूज्य भाव नहीं, अकार्य करने में गुरु का भय नहीं, लज्जा-दाक्षिण्य नहीं ऐसे साधु को गुरुकुलवास से क्या? (ऐसे साधु को गुरुकुलवास का फल नहीं मिलता) ।।७५।।

रूसइ चोइज्जंतो, वहइ य हियएण अणुसयं भणिओ ।
न य कम्हिं करणिज्जे, गुरुस्स आलो न सो सीसो।।७६।।

जो व्यक्ति हितशिक्षा देनेवाले सद्गुरु पर क्रोधित होता है, सारणा वारणादि के समय गुरु पर क्रोध से ग्रंथी बांध लेता है (अवसर मिलने पर क्रोध को प्रकट कर दे) करणीय सत्कार्य को करे नहीं, वह गुरु का शिष्य नहीं परंतु गुरु के लिए कलंक रूप है (दुश्मन है) ।।७६।।

उव्विलणसूअणपरिभवेहिं; अइभणियदुट्ठभणिएहिं ।
सत्ताहिया सुविहिया, न चेव भिंदंति मुहरागं ।।७७।।

क्रोधादि का निग्रह करने की शक्तिवान् सुविहित मुनि, स्वयं के वचनों का अनादर करे, चुगली करे, पराभव अपमान करे, विपरीत बोले, कर्कश-कठोर वचन कहे फिर भी अपना मुंह बिगाड़ते नहीं है। (क्योंकि वे ऐसे लोगों की करुणा का विचार करते हैं) ।।७७।।

माणंसिणोवि अवमाण-वंचणा, ते परस्स न करेंति ।
सुहदुक्खुग्गिरणत्थं, साहू उयहिव्व गंभीरा ।।७८।।

(इंद्रादि से पूज्य) मानवंत ऐसे भी साधु दूसरे (स्वयं का अहित करने वाले) का भी अपमान या वंचना नहीं करते क्योंकि वे शाता-अशाता की विटंबणा को दूर करने के लिए (कर्म निर्जरा के अंतर्गत शाता-अशाता के हेतुभूत पुण्य-पाप के भी क्षय की प्रवृत्ति वाले होते हैं) और समुद्र सम गंभीर (उनका उत्तम अंतर भाव दूसरा जान न सके ऐसे गंभीर होते हैं या अपना सुख दुःख दूसरे को कहने के लिए उत्सुक न होने से गंभीर होते हैं। जैसे समुद्र अपने रत्नों को बाहर फेंकने के लिए तैयार नहीं होता) ।।७८।।

मउआ निहुअसहाया, हासदवयियज्जिया विगहमुक्का ।
असमंजसमइबहुअं, न भणंति अपुच्छिया साहू ॥७९॥

मुनि नम्र निभृत-प्रवृत्ति की धमाल से रहित, (संयम प्रवृत्ति होने पर भी उपशांत होने से निभृत-जैसे सूर्य) हंसी मजाक से रहित, विकथा से रहित अंशमात्र असंगत वचन नहीं बोलनेवाले, और बिना पूछे, योग्य वचन भी अति मात्रा में नहीं बोलते हैं। अर्थात् प्रत्युत्तर देना होता है तब भी अल्प शब्दों का प्रयोग करते हैं ॥७९॥

महुरं निउणं थोवं, कज्जावडियं अगव्वियमतुच्छं ।
पुव्विं मइसंकलियं, भणंति जं धम्मसंजुत्तं ॥८०॥

साधु बोले तब भी मधुर (श्रोता को आल्हादक) निपुण-सूक्ष्म अर्थ युक्त, परिमित, प्रयोजन हो उतना, स्वश्लाघा से रहित, अर्थ गंभीर (तुच्छ शब्द से रहित) बोलने के पूर्व पूर्ण रूप से विचारकर निरवद्य धर्म संयुक्त बोलते हैं। (ऐसे विवेकी साधु शीघ्र मोक्ष प्राप्त करते हैं) ॥८०॥

सट्ठिं वाससहस्सा, तिसत्तखुत्तोदयेण धोएणं ।
अणुचिण्णं तामलिणा, अन्नाणतंवुत्ति अप्पफलो ॥८१॥

तामली तापस ने इक्कीस बार जल से धोकर साठ हजार वर्ष छट्ठ के पारणे छट्ठ तप करने पर भी अज्ञान तप होने से अल्प फलवाला हुआ। (जीव विराधना एवं सुदेवादि की श्रद्धा न होने से अज्ञान तप कहा गया) ॥८१॥

छज्जीवकाययहगा, हिंसगसत्थाइं उवइसंति पुणो ।
सुबहुं पि तवकिलेसो, बालतवस्सीण अप्पफलो ॥८२॥

अज्ञानी छ जीव निकाय के हिंसक, हिंसा का पोषण हो वैसे वेदादि शास्त्रों के उपदेशक ऐसे बाल अज्ञान तपस्वी कष्टकारी अधिक भी तप का अल्प फल प्राप्त करते हैं। या 'अप्पफलो अपि अफलो' इष्ट नहीं परंतु संसार रूपी अनिष्ट फलदायी होने से निष्फल है ॥८२॥

परियच्छंति अ सव्वं, जहट्ठियं अवितहं असंदिद्धं ।
तो जिणवयणविहिन्नू, सहंति बहुअस्स बहुआइं ॥८३॥

(सर्वज्ञ के उपदेश से जीवाजीवादि) सभी तत्त्वों को यथार्थ स्वरूप में जानते हैं, निःशंकता से श्रद्धा करते हैं, उससे ही श्री जिन वचन के विधि के ज्ञाता (सर्वज्ञ आगम को विचारने वाले मुनिवर अनेक व्यक्तियों के अनेक उपसर्गों (दुर्वचनों को) सम्यग् रीति से सहन करते हैं। (वे सोचते हैं यह मेरे ही अशुभ कर्मों का फल है उनके दोष नहीं हैं) ॥८३॥

जो जस्स वट्टए हियए, सो तं ठावेइ सुंदरसहावं ।
वग्घी च्छावं जणणी, भद्दं सोमं च मन्नइ ॥८४॥

जो जिसके हृदय में रहा हुआ है वह (अयोग्य होगा तो भी) सुंदर स्वभाव युक्त है ऐसा मानेगा। वाघण अपने बच्चे को भद्र एवं शांत मानती है। (वैसी ही मंदबुद्धि वाले लोग अज्ञान तपस्वीयों को भी सुंदर मानते हैं। यह अविवेक जन्य है अतः विवेक की ही आवश्यकता है) ॥८४॥

मणिकणगरयणधणपूरियंमि, भवणंमि सालिभद्दोवि ।
अन्नो किर मज्झ वि, सामिओ त्ति जाओ विगयकामो॥८५॥

मणि, सुवर्ण, रत्न और धन आदि से भरपुर घर को भी शालिभद्रजी विवेक से "मेरे ऊपर मालिक है" इस विचार से विषयों से पराङ्मुख बनें ॥८५॥

न करंति जे तवं संजमं च, ते तुल्लपाणिपायाणं ।
पुरिसा समपुरिसाणं, अवस्स पेसत्तणमुविंति ॥८६॥
सुंदरसुकुमालसुहोइएण, विविहेहिं तवविसेसेहिं ।
तह सोसविओ अप्पा, जह नवि नाओ सभवणेऽवि॥८७॥

(शालिभद्र ने सोचा विषय मग्न और मोहनृप का गुलाम ऐसे मेरे ऊपर मालिक हो यह ठीक ही है क्योंकि) जो बारह प्रकार के तप और छ काय की रक्षा आदि संयमाचरण नहीं करते, वे हस्त पैर से समान और समान शक्ति-पुरुषार्थ वाले मानवों के भी दास बनते हैं। (जब कि संयमी आत्मा इस दासता से मुक्त हो जाता है ऐसा सोचकर) शालिभद्रजी ने रूपवान्, कोमल और सुखभोगोचित ऐसी अपनी काया को विविध विशिष्ट तप द्वारा ऐसी शुष्क बना दी कि जिससे अपने गृहांगन में भी उन्हें किसी ने नहीं पहचाना ॥८६-८७॥

दुक्करमुद्धोसकरं, अवंतिसुकुमालमहरिसीचरियं ।
अप्पावि नाम तह, तज्जइत्ति अच्छेरयं एयं ॥८८॥

(अरे! इससे भी आगे बढ़कर) अवंति सुकुमाल महर्षि का चरित्र अतीव दुःख पूर्वक आचरा जाय ऐसा रोमांच खड़े कर दे वैसा है कि (स्वयं के अनशन-कायोत्सर्ग धर्म को पार करने के लिए) स्वयं के शरीर का सर्वथा त्याग किया यह एक आश्चर्य है ॥८८॥

उच्छूढसरीरघरा, अन्नो जीवो सरीरमन्नंति ।
धम्मस्स कारणे सुविहिया, सरीरं पि छड्डंति ॥८९॥

शरीर रूपी गृह की चिंता छोड़नेवाले शुद्ध आचारवान् मुनि 'जीव अन्य है शरीर अन्य है' इस भावना से भावित होकर धर्म निमित्ते शरीर का भी त्याग कर देते हैं। (अर्थात् प्राणांते भी धर्म की रक्षा करते हैं) ।।८९।।

एगदिवसं पि जीवो, पव्वज्जमुवागओ अनन्नमणो ।
जइवि न पावइ मुक्खं, अवस्स वेमाणिओ होइ ।।९०।।

(इस प्रकार धर्म प्रति आदर भाववाला) आत्मा एक दिन का भी संयम को पालकर संयम में निश्चल मनवाला होकर मोक्ष पाता है। अगर (वैसा संघयण काल आदि का योग न हो तो) मोक्ष प्राप्त न करे तो भी वैमानिक देव बनता है। (चारित्र से समर्थित समकित अल्पावधि समय का हो तो भी विशिष्ट फल का कारण बनता है ।।९०।।

सीसावेढेण सिरम्मि, वेढिए निग्गयाणि अच्छीणि ।
मेयज्जस्स भगवओ, न य सो मणसा वि परिकुविओ।।९१।।

(क्रौंच पक्षी ने चुगे हुए स्वर्ण यव की बात मेतार्य मुनि ने क्रौंच पक्षी की करुणा से न कही तो) भगवान् आर्य मेतार्य मुनि का मस्तक (सोनार ने) वाघर (चमड़े) से लपेटा तब उनके नेत्र नीकल गये फिर भी वचन-काया से तो क्या मन से भी (सोनार पर) कुपित न हुए। (मुनि धर्म के लिए शरीर नष्ट होने दे परंतु शरीर नाशक पर क्रोध न करे) ।।९१।।

जो चंदणेण बाहुं, आलिंपइ वासिणा वि तच्छेइ ।
संथुणइ जो अ निंदइ, महरिसिणो तत्थ समभावा।।९२।।

(शारीरिक शाता-अशाता रूप) कोई शरीर पर चंदन का विलेपन करे या कोई वांसले से चमड़ी उतारे, (मानसिक शाता-अशाता रूप) कोई स्तुति करे या कोइ निन्दा करे किंतु उत्तम मुनि दोनों समय दोनों व्यक्ति प्रति समभाव रखें। (न रोष करें, न तोष करें) ।।९२।।

सिंहगिरिसुसीसाणं भद्दं, गुरुवयणसद्दहंताणं ।
वयरो किर दाही, वायणत्ति न विकोविअं वयणं ।।९३।।

(ऐसी साधुता गुरु के उपदेश से प्रकटित होती है अतः गुरु वचन को विकल्प रहित स्वीकार करने वाले मुनियों को धन्य है) गुरु वचन में श्रद्धावान् उन आर्य सिंहगिरि के उत्तम शिष्यों का कल्याण हो कि 'तुमको वाचना यह बाल मुनि वज्र देगा' ऐसा कहने पर उनके मुख पर अंशमात्र विपरीत रेखा न आयी ।।९३।।

मिण गोणसंगुलीहिं, गणेहिं या दंतचक्कलाइं से ।
इच्छंति भाणिऊणं, कज्जं तु त एव जाणंति ।।९४।।

(विनीत शिष्य का यह कर्तव्य है कि) गुरु कदाच ऐसा कहे कि ''अंगुलियों से सर्प को मापो'' या ''साँप के दांत गिनो'' तो भी तहत्ति कहकर स्वीकारकर उस कार्य को शीघ्र करता है (क्यों?) इस आदेश का कारण आज्ञा करनेवाले गुरु अच्छी प्रकार समजते हैं ।।९४।।

कारणविऊ कयाई, सेयं कायं वयंति आयरिया ।
तं तह सद्दहिअव्वं, भविअव्वं कारणेण तहिं ।।९५।।

कभी प्रयोजन समझने वाले आचार्य (गुरु) कौए को शुक्ल कहे तो भी उस वचन को उसी प्रकार श्रद्धाकर उसे मानना चाहिए। (ऐसा सोचकर कि) ऐसा कहने में कारण होगा अतः गुरु वचन में विश्वास रखना चाहिए ।।९५।।

जो गिण्हइ गुरुवयणं, भण्णंतं भावओ विसुद्धमणो ।
ओसहमिव पिज्जंतं, तं तस्स सुहावहं होइ ।।९६।।

जो शिष्य गुरु मुख से प्रकटित वचन भाव पूर्वक निर्मल-निर्विकल्प मन से स्वीकार कर लेते हैं, उनको वह गुरु आज्ञा जैसे लिया हुआ औषध रोग का नाश करता है वैसे वे वचन कर्म रोग के नाशक बनकर सुखकारक होते हैं ।।९६।।

अणुवत्तगा विणीया, बहुक्खमा निच्चभत्तिमंता य ।
गुरुकुलवासी अमुई, धन्ना सीसा इह सुसीला ।।९७।।

गुरु की इच्छानुसार वर्तक, विनय युक्त, विशेष क्षमा युक्त, नित्य गुरु भक्ति में निमग्न, गुरुकुलवास को नहीं छोड़ने वाले ऐसे सुशील शिष्य धन्य हैं ।।९७।।

जीवंतस्स इह जसो, कित्ती य मयस्स परभवे धम्मो ।
सगुणस्स य निग्गुणस्स य, अयसो अकित्ती अहम्मो य।।९८।।

(शिष्य में ऐसे गुणों का प्रभाव यह है कि) वह जीवित है, वहाँ तक लोक में उसका गुणवान के रूप में यश फैलता है। मृत्यु के बाद भी कीर्त्ति अखंड रहती है और परभव में उत्तम धर्म की प्राप्ति होती है, यह सब सद्गुणी को प्राप्त होता है। निर्गुणी (गुरु-अनुवर्तनादि) गुण रहित की यहाँ अपकीर्ति अपयश और परभव में (कुगति के कारणभूत) अधर्म की प्राप्ति होती है ।।९८।।

युद्धावासे वि ठियं, अहव गिलाणं गुरुं परिभवंति ।
दत्तुव्व धम्मवीमंसएण, दुस्सिक्खियं तं पि ॥९९॥

दत्तमुनि के समान मंद बुद्धि मुनि धर्म के कुविकल्प से (मैं धर्म में दोष सेवन नहीं करता गुरु करतें हैं ऐसे कुविचार से) जंघाबल क्षीण होने से स्थिरवास में रहे हुए ग्लान गुरु के छिद्र ढूंढकर उनका पराभव तिरस्कार करता है (वह केवल उद्धताइ से ही नहीं परंतु अपने को व्यवस्थित मानता हो तो भी) उसकी वह शिक्षा दुष्ट है (क्योंकि दुर्गति का कारण है) ।।९९।।

आयरिय-भत्तिरागो, कस्स सुनक्खत्तमहरिसीसरिसो?
अवि जीवियं ववसियं, न चेव गुरुपरिभवो सहिओ॥१००॥

(स्वयं तो गुरु का पराभव न करे परंतु दूसरे के द्वारा किये जाते पराभव को भी सहन न करने वाले) आर्य सुनक्षत्र महर्षि के जैसा गुरु प्रति भक्ति राग दूसरा किसका ढूंढे कि जिस राग में स्वयं के जीवन को भी खत्म होने दिया। परंतु गुरु के तिरस्कार को सहन न किया। (गोशाले ने भगवंत को कहे हुए अप शब्द उन्होंने सहन नहीं किये) ।।१००।।

पुण्णेहिं चोइया पुरक्खडेहिं, सिरिभायणं भविअसत्ता ।
गुरुमागमेसिभद्दा, देवयमिव पज्जुवासंति ॥१०१॥

जो आत्मा गुरु की **देवाधिदेव के समान** सेवा भक्ति करता है वह भव्य जीव वास्तव में पूर्वकृत पुण्यानुबंधी पुण्य से प्रेरित है और उससे वह ज्ञानादि संपत्ति का स्वामी बनकर भविष्य में कल्याणकारी स्थान को पाता है ।।१०१।।

बहु-सुक्खसयसहस्साण-दायगा, मोअगा दुहसयाणं ।
आयरिया फुडमेएं, केसिपएसी य ते हेऊ ॥१०२॥

धर्मगुरु शिष्य को अनेक प्रकार के लाखों प्रकार के सुख को देनेवाले और शताधिक दुःखों से बचाने वाले होते हैं। यह केशी राजा और प्रदेशी राजा के दृष्टांत से स्पष्ट है। इस कारण हे शिष्य तूं सद्गुरु की उपासना कर ।।१०२।।

नरयगइगमणपडिहत्थाए कए तह पएसिणा रण्णा ।
अमरविमाणं पत्तं, तं आयरियप्पभावेणं ॥१०३॥

जिस प्रकार नरकगति गमन में 'पडिहत्था'=भारी कर्म बंधे हुए होने पर भी प्रदेशी राजा के द्वारा देव विमान प्राप्त किया गया यह धर्माचार्य के प्रभाव से ही बना ।।१०३।।

धम्ममएहिं अइसुंदरेहिं, कारणगुणोवणीएहिं ।
पल्लायंतो व्व मणं, सीसं चोएइ आयरिओ ॥१०४॥

धर्माचार्य (कैसे करुणा और वात्सल्य से भरे हुए होते हैं) शिष्य को प्रेरणा-प्रोत्साहन देते हैं व धर्ममय (निरवद्य) और वह भी अति सुंदर (दोष रहित) वचन से, वह भी प्रयोजन तथा ज्ञान पात्रादि गुण युक्त वचन से और इस प्रकार वे वचन शिष्य के मन को आल्हाद् उत्पन्न करने वाले होते हैं। (मनः प्रल्हाद सत्य वचन से ही किया जाता है असत्य प्राणांते भी नही बोला जाय) ॥१०४॥

जीअं काऊण पणं, तुरुमिणिदत्तस्स कालिअज्जेण ।
अवि अ सरीरं चत्तं, न य भणिअमहम्मसंजुत्तं ॥१०५॥

जैसे तुरूमिणि नगरी में मंत्रीपद में से राजा बने हुए दत्त ब्राह्मण के सामने श्री कालिकाचार्य ने जीवन को होड़ में रखकर (सत्य बोलकर) शरीर की ममता भी छोड़ दी! परंतु असत्य अधर्म युक्त वचन न कहा ॥१०५॥

फुडपागडमकहंतो, जह-ट्ठियं बोहिलाभमुवहणइ ।
जह भगवओ विसालो, जरमरणमहोअही आसि ॥१०६॥

स्पष्ट और प्रकट और यथावस्थित धर्म को न कहने वाले अपने बोधिलाभ का नाश करते हैं। जैसे महावीर प्रभु ने (मरीचि के भव में कविला! 'इहयंपि इत्थंपि' ऐसा संदिग्ध वचन के कारण) जन्म जरा मृत्यु का बड़ा समुद्र निर्माण किया ॥१०६॥

कारुण्णरुण्णसिंगार-भावभयजीवियंतकरणेहिं ।
साहू अवि अ मरंति, न य निअनियमं विराहिंति॥१०७॥

साधु को चलित करने हेतु स्वजनादि करुणा भाव से रूदन विलाप करे, स्त्रीयाँ कामोत्तेजक श्रृंगार हाव भाव बताये, राजादि से भय-त्रास या प्राणनाशक कारण आ जावे तो भी साधु मृत्यु का स्वीकार करते हैं किन्तु नियम की विराधना नहीं करते ॥१०७॥

अप्पहियमायरंतो, अणुमोअंतो य सुग्गइं लहइ ।
रहकारदाणअणुमोअगो, मिगो जह य बलदेवो ॥१०८॥

(तप संयमादि) आत्महितकर की आचरणा करने वाला और (दान संयमादि को) अनुमोदन करने वाला सद्गति प्राप्त करता है जैसे रथकार के दान की अनुमोदना करने वाला मृग, रथकार और बलदेव मुनि (पांचमें देवलोक में गये) ॥१०८॥

जं तं कयं पुरा पूरणेण, अइदुक्करं चिरं कालं ।
जइ तं दयावरो इह, करिंतु तो सफलयं हुंतं ।।१०९।।

पूर्व में पूरण तापस ने अति दुष्कर तप दीर्घकाल तक किया, वही तप जो दयायुक्त होकर (सर्वज्ञ शासन में रहकर) किया होता तो सफल होता (मोक्ष साधक बनता) ।।१०९।।

कारणनीयावासे, सुट्ठुयरं उज्जमेण जइयव्वं ।
जह ते संगमथेरा, सपाडिहेरा तया आसि ।।११०।।

सर्वज्ञ शासन में अपवाद मार्ग से उद्यत विहारी होकर दूसरी रीति से प्रवृत्ति करे तो भी आराधक है। क्षीण जंघाबल आदि कारणों से मुनि को स्थिरवास करना पड़े तो संयम में उत्कट उद्यम से प्रयत्न करना। जैसे वे स्थविर संगम सूरि स्थिरवास में भी ऐसी उत्कट उद्यत यतना रखते थे, जिससे उनको देवकृत अतिशयों की संपत्ति प्राप्त थी ।।११०।।

एगंतनियवासी, घरसरणाईसु जह ममत्तं पि ।
कह न पडिहंति कलिकलुस-रोसदोसाण आवाए ।।१११।।

निष्कारण नित्य स्थिरवास करने वाले, उसमें भी घर-छत, स्वजनादि का खयाल रखने की ममता में गिरने वाले कलह-हिंसादि पाप और क्रोध (मानादि) के दोषों में संमिलित कैसे नहीं होंगे? (कारण) ।।१११।।

अवि कत्तिऊण जीवे, कत्तौ घरसरणगुत्तिसंठप्पं?
अवि कत्तिआ अ तं तह, पडिया असंजयाण पहे ।।११२।।

जीवों को छेदनादि किये बिना घर-छत, वांड़, दिवार आदि की मरम्मत कैसे होगी? (नहीं ही होगी) और इस प्रकार छेदनादि कर कराकर साधु असंयमी-गृहस्थों के मार्ग में ही गिरा ।।११२।।

थोवोऽपि गिहिपसंगो, जइणो सुद्धस्स पंकमावहइ ।
जह सो वारत्तरिसी, हसिओ पज्जोयनरवइणा ।।११३।।

(मात्र गृहकर्म ही नहीं) गृहस्थों का अल्प संबंध परिचय भी पवित्र साधु को दोष से मलिन बनाने वाला बनता है। जैसे वारत्तक ऋषि का प्रद्योतराजा द्वारा हास्य किया गया। (अल्प परिचय भी दोषकारी है तो विशेष में स्त्री संबंध का पूछना ही क्या?) ।।११३।।

सब्भावो वीसंभो, नेहो रइवइयरो य जुवइजणे ।
सयणघर-संपसारो, तवसीलवयाइं फेडिज्जा ।।११४।।

स्त्रियों का साधु वसति में अकाल में आना, उन पर विश्वास, स्नेहराग,

कामरागकारी बातचीत, (ईशारे-हावभाव आदि बताना) और उनके स्थान, स्वजन, घर संबंध में विचारणा (ये कार्य साधु के) तप-शील (उत्तर गुण) और महाव्रतों का नाश करते हैं। (गाथा में रहे हुए तव शब्द का एक अर्थ हे शिष्य तेरे शील आदि) ।।११४।।

जोइसनिमित्तिअक्खर, कोउयआएसभूइकम्मेहिं ।
करणाणुमोअणाहि अ, साहुस्स तवक्खओ होइ ।।११५।।

(साधु का जो कार्य नहीं वहाँ) ज्योतिष या निमित्त बताना, मूलाक्षर आदि शिक्षण देना, (किसी कार्य के लिए) स्नानादि कौतुक बताना, भविष्यवाणी कहनी, राख (वासक्षेप-धागा आदि) मंत्रितकर देना, (मंत्रादि का) प्रयोग करना, ये कार्य साधु स्वयं करे, करावे या अनुमोदन करे उससे उसके बाह्याभ्यंतर धर्म का नाश होता है ।।११५।।

जह जह कीरइ संगो, तह तह पसरो खणे खणे होइ ।
थोवो वि होइ बहुओ, न य लहइ धिइं निरुभंतो।।११६।।

जैसे-जैसे (दोष या असत् क्रिया का) संग किया जाता है वैसे-वैसे प्रतिक्षण उसकी वृद्धि होती है (अल्प दोष में क्या नुकसान? तो कहा कि) अल्प दोष भी बढ़कर अधिक होता है (क्योंकि जीव का दोष सेवन का अनादि का अभ्यास है) फिर वह रोका नहीं जाता और (गुर्वादि से) रोका जाय तो असमाधि हो जाती है ।।११६।।

जो चयइ उत्तरगुणे, मूलगुणे वि अचिरेण सो चयइ ।
जह जह कुणइ पमायं, पेलिज्जइ तह कसाएहिं ।।११७।।

अल्प दोष अधिक कैसे होता है? तो कहा कि—जो अल्प अर्थात् निर्दोष गोचरी आदि उत्तर गुण को छोड़ता है वह अल्प समय में अहिंसादि मूलगुण को भी छोड़ देता है क्योंकि जैसे-जैसे गुणों में प्रमाद शिथिलता होती है वैसे-वैसे (स्थान-संयोग मिलने से) कषाय प्रज्वलित होते हैं। अल्प भी दोष का राग तृतीय कषाय की चोकड़ी का राग होने से मूल चारित्र की हानि होती है ।।११७।। (इससे विपरीत)

जो निच्छएण गिण्हइ, देहच्चाए वि न य धिइं मुयइ ।
सो साहेइ सकज्जं, जह चंडवडिंसओ राया ।।११८।।

जो दृढ़ निश्चयवान् (यथाशक्ति सद्व्रत अनुष्ठान का) स्वीकार करता है और प्राणांते भी उस स्थिरता को नहीं छोड़ते, वे स्वयं के प्रयोजन को सिद्ध करते हैं। जैसे राजा चंद्रावतंसक ।।११८।।

सीउण्हखुप्पियासं, दुस्सिज्जपरीसहं किलेसं च ।
जो सहइ तस्स धम्मो, जो धिइमं सो तवं चरइ॥११९॥

और शीत-उष्ण, क्षुधा, पिपासा, ऊँची नीची भूमि, विविध परिसहादि (देवादिकृत उपसर्ग) कष्ट समभाव पूर्वक सहन करता है उसीको धर्म होता है। वही धर्मी कहा जाता है। क्योंकि जो निष्प्रकंप चित्त से धैर्यवान् होता है उसमें ही परिसह सहन करने रूप तपश्चर्या का आचरण होता है। (परिसह की असहिष्णुता में आर्त्तध्यान के कारण धर्मभंग) ।।११९।।

धम्ममिणं जाणंता, गिहिणो वि दढव्वया किमुअ साहू?।
कमलामेलाहरणे, सागरचंदेण इत्थुवमा ॥१२०॥

(यह धीरज जिन शासन के तत्त्वज्ञों में अवश्य होती है इससे ही) सर्वज्ञ प्रणीत धर्म को जानने वाले गृहस्थ भी व्रत पालन में दृढ़ होते हैं तो साधु का तो पूछना ही क्या? (उनको तो विशेषकर दृढ़व्रती होना ही चाहिए) इसमें कमलामेला का हरण करने वाले सागरचंद्र (पौषध प्रतिमायुक्त) का उदाहरण है ।।१२०।।

देवेहिं कामदेवो, गिही वि न वि चालिओ तवगुणेहिं ।
मत्तगयंदभुयंगम-रक्खसघोरट्टहासेहिं ॥१२१॥

कामदेव श्रावक गृहस्थ होते हुए भी काउस्सग्ग में देवकृत उन्मत्त हाथी, सर्प एवं राक्षस के घोर अट्टहास से भी तप और गुणों से (सत्त्व से) चलित न कर सका (साधु तो विशेष विवेकवान् होने से अवश्य अक्षोभ्य होता है) ।।१२१।।

भोगे अभुंजमाणा वि, केइ मोहा पडंति अहरगइं ।
कुविओ आहारत्थी, जत्ताइ-जणस्स दमगुव्व ॥१२२॥

(बिना अपराध से क्रोधित होने वाला अविवेकी) कितनेक शब्दादि-सुखभोग की प्राप्ति न होने से अज्ञानता से निम्न गति में गिरते हैं। जैसे (वैभारगिरि की तलेटी में) उत्सव में दत्तचित्त जन समुदाय पर आहार के लिए क्रोधित बना द्रमक-भिक्षुक ।।१२२।।

भवसयसहस्स-दुलहे, जाइजरामरणसागरुत्तारे ।
जिणवयणंमि गुणायर! खणमवि मा काहिसि पमायं॥१२३॥

अतः हे गुणों की खान शिष्य! लाखों भवों में दुर्लभ और जन्म, जरा, मृत्यु मय संसार से पार करने वाले ऐसे जिनवचन (का आदर करने) में एक क्षण भर का भी प्रमाद मत करना ।।१२३।।

जं न लहइ सम्मत्तं, लद्धूण वि जं न एइ संवेगं ।
विसयसुहेसु य रज्जइ, सो दोसो रागदोसाणं ॥१२४॥

जो जीव समकित प्राप्त नहीं करता, या (समकित) प्राप्त करने के बाद भी संवेग अर्थात् मोक्ष की लगनी नहीं लगती, परंतु शब्दादि विषय सुखों में आसक्त गुलाम बना रहता है। यह गुन्हा राग और द्वेष का है (क्योंकि राग-द्वेष जीव को दुःख के कारण में सुख का भ्रम उत्पन्न करवाते हैं) ॥१२४॥

तो बहुगुणनासाणं, सम्मत्तचरित्तगुणविणासाणं ।
न हु वसमागंतव्वं, रागद्दोसाण पावाणं ॥१२५॥

इससे जिसका नाश अत्यंत गुणकारी है ऐसे रागद्वेष रूपी पाप, सम्यग्दर्शन, चारित्र-ज्ञानादिगुणों के नाशक होने से उसकी परवशता में नहीं जाना (अर्थात् उसके वश नहीं होना कारण कि) ॥१२५॥

न वि तं कुणइ अमित्तो, सुट्ठुवि सुविराहिओ समत्थोवि।
जं दोवि अणिग्गहिया, करंति रागो य दोसो य ॥१२६॥

अत्यंत प्रबलता से विपरीत बना हुआ समर्थ शत्रु जितना नुकसान नहीं करता उससें अधिक वश में नहीं हुए (निरंकुश) राग-द्वेष करते हैं। (श्लोक में राग और द्वेष समानबली है ऐसा सूचित किया है) ॥१२६॥

इहलोए आयासं, अजसं च करंति गुणविणासं च ।
पसवंति अ परलोए, सारीरमणोगए दुक्खे ॥१२७॥

(राग-द्वेष जनित कौन सा नुकसान? तो कहा कि—इस जन्म में शरीर-मन में अयोग्य श्रम, अपयश और गुणों का विध्वंस करता है और परलोक में (नरकादि में गिराकर) शारीरिक-मानसिक दुःखों को उत्पन्न करता है (ऐसा है तो) ॥१२७॥

धिद्धी अहो अकज्जं, जं जाणंतोवि रागदोसेहिं ।
फलमउलं कडुअरसं, तं चेव निसेवए जीवो ॥१२८॥

अत्यंत धिक्कार है जीव को (यहाँ देखो) वह असत् प्रवृत्तिओ में राग-द्वेषकर-करके महाउग्र कटु रसवाले विपाक भोगने पड़ेंगे ऐसा जानते हुए भी खेद की बात है कि वह राग-द्वेष युक्त असत् क्रिया करता रहता है ॥१२८॥

को दुक्खं पाविज्जा?,कस्स य सुक्खेहिं विम्हिओ हुज्जा?।
को वि न लभिज्ज मुक्खं?,रागद्दोसा जइ न हुज्जा ॥१२९॥

जो जीव में राग-द्वेष न होता तो (दुःख का कारण चले जाने से)

कौन जीव दुःख प्राप्त करता? और कौन (सुख प्रतिबंधक राग-द्वेष के अभाव से सुलभ) सुख मिलने से विस्मित होता? (राग-द्वेष के अभाव से) कौन मोक्ष प्राप्त न करे? (अर्थात् सभी जीव मोक्ष प्राप्त कर लेते) ।।१२९।।

माणी गुरुपडिणीओ, अणत्थभूओ अमग्गचारी अ ।
मोहं किलेसजालं, सो खाइ जहेव गोसालो ।।१३०।।

गर्विष्ठ, गुरु-द्रोही, गुरु से प्रतिकूल वर्तक (दुःशीलता से) अनेक अनर्थकर कार्य कारक, और मार्ग (सूत्र) विरुद्ध आचरण करने वाला, साधु (मोघ=) निष्प्रयोजन ही (मुंडन-तप आदि) कष्ट समूह को धारण करता है जैसे गोशाला। (कष्ट क्लेश से साध्यरूप में कुछ भी फल नहीं मिलता) ।।१३०।।

कलहणकोहणसीलो, भंडणसीलो विवायसीलो य ।
जीवो निच्चुज्जलिओ, निरत्थयं संयमं चरइ ।।१३१।।

कलहकर, क्रोधि, युद्धकर, (दंडादि से लड़ने वाला), (कोर्टादि में) लड़ने वाला, ऐसा जीव सदा जलता हुआ क्रोधान्ध रहकर संयम की बाह्य आचरणा निरर्थक करता है। उसको संयम का कोई कार्य सिद्ध नहीं होता ।।१३१।।

जह वणदवो वणं, दवदवस्स जलिओ खणेण निद्दहइ ।
एवं कसायपरिणओ, जीवो तवसंजमं दहइ ।।१३२।।

जैसे वन में शीघ्र प्रकटित दावानल क्षणभर में वन को भस्म कर देता है। वैसे क्रोधादि कषाय परिणाम युक्त आत्मा तप-प्रधान संयम को जला देता है ।।१३२।।

परिणामवसेण पुणो, अहिओ ऊणयरओ व हुज्ज खओ।
तह वि ववहारमित्तेण, भण्णइ इमं जहा थूलं ।।१३३।।

(क्या क्रोध से तप-संयम सर्वथा नष्ट होता है? नहीं) तप-संयम का अधिकतर या न्युनतर क्षय परिणाम (अर्थात् अध्यवसाय की तरतमता के) अनुसार ही होता है। फिर भी व्यवहार मात्र से स्थूल दृष्टि से ऐसा कहा जाता है कि—।।१३३।।

फरुसवयणेण दिणतवं, अहिक्खिवंतो अ हणइ मासतवं।
वरिसतवं सवमाणो, हणइ हणंतो अ सामण्णं।।१३४।।

साधु (साधु प्रति) कर्कश वचन बोलने से एक दिन के तप और (संयम) का नाश करता है। जाति आदि के आक्षेप (अवहेलना) करने वाला

एक महिने के तप का और श्राप देते हुए एक वर्ष के तप का और मारते हुए समस्त चारित्र पर्याय का नाश करता है ।।१३४।।

अह जीविअं निकिंतइ, हंतूण य संजमं मलं चिणइ ।
जीवो पमायबहुलो, परिभमइ अ जेण संसारे ।।१३५।।

और जीव प्रमाद की बहुलता से जो सामने वाले के जीवितव्य का नाश करता है तो (सकल काल व्यापी) संयम का नाश करता है। उस समय ऐसा पाप बांधता है कि जिससे वह संसार में भटकता ही रहता है ।।१३५।।

अक्कोसणतज्जणताडणाओ, अवमाणहीलणाओ य ।
मुणिणो मुणियपरभवा, दढप्पहारि व्व विसहंति ।।१३६।।

दृढ़ प्रहारी के समान मुनिगण अपने ऊपर आक्रोश (वचन प्रहार) निर्भर्त्सना, (रस्सी से) ताड़ना, अपमान-तिरस्कार और अवहेलना को समभाव से सहन करता है। क्योंकि वह (सहन न करने या हाय-हाय करने में परलोक के) परिणाम का ज्ञाता है ।।१३६।।

अहमाहओ त्ति न य पडिहणंति, सत्ता वि न य पडिसवंति।
मारिज्जंता वि जई, सहंति सहस्समल्लु व्व ।।१३७।।

(अधम मानवों ने) मुझे (मुष्ठि आदि से) मारा पुनः मुनि उसे नहीं मारते, वे श्राप की भाषा बोलते है फिर भी मुनि श्राप की भाषा नहीं बोलता (अधम जनों द्वारा) मुनि जन मार खाने पर भी शांति से सहन ही करते है (विपरित दया खाते हैं कि यह बेचारा मेरे निमित्त से दुर्गति में न जाय तो ठीक) जैसे सहस्त्रमल्ल मुनि ।।१३७।।

दुज्जणमुहकोदंडा, वयणसरा पुव्वकम्मनिम्माया ।
साहूण ते न लग्गा, खंतिफलयं वहंताणं ।।१३८।।

दुर्जन का मुख यह धनुष्य है, उसमें से कुवचन रूपी बाण नीकले वे (मेरे) पूर्वकृत कर्म से निकले। परंतु वे साधुओं को लगे नहीं, क्योंकि वे क्षमा की ढाल धारण किये हुए थें। (क्षमा में यह विवेक होता है कि दुर्वचन रूपी बाण का मूल फेंकने वाले जो पूर्व कर्म उस पर दृष्टि जाती है) ।।१३८।।

पत्थरेणाहओ कीवो, पत्थरं डक्कुमिच्छइ ।
मिगारिओ सरं पप्प, सरुप्पत्तिं विमग्गइ ।।१३९।।

(अविवेकी को क्रोध का अवकाश है) पत्थर से मार खानें वाला कुत्ता पत्थर पर क्रोध करता है जब कि सिंह बाण लगने पर क्रोध करता है पर (बाण पर नहीं) बाण की उत्पत्ति (बाण फेंकने वाले) की ओर दृष्टि ले

जाता है। (बाण फेंकने वाले पर आक्रमण करता है) ।।१३९।।

तह पुव्विं किं न कयं?, न बाहए जेण मे समत्थोऽवि।
इण्हिं किं कस्स य, कुप्पिमुत्ति धीरा अणुप्पिच्छा ।।१४०।।

(मुनि दुष्ट के दुर्वचनादि के प्रसंग पर सोचता है कि) मैंने पूर्व जन्म में ऐसा (अच्छा) कार्य क्यों नहीं किया कि जिस पुण्य के कारण समर्थ व्यक्ति भी मुझे सता न सके (अतः यह मेरा ही दोष है) तो अब निष्कारण क्रोध क्यों करूं? इस प्रकार विचारकर धैर्यतावान् महात्मा निश्चल रहते हैं (इस प्रकार द्वेषी पर द्वेष न करने का उपदेश दिया। अब रागी पर राग के त्याग का उपदेश देते हैं) ।।१४०।।

अणुराएण जइस्स वि, सियायपत्तं पिया धरावेइ ।
तह वि य खंदकुमारो, न बंधुपासेहिं पडिबद्धो ।।१४१।।

पिता अनुराग से मुनि पर भी सफेद छत्र धरते हैं। तो भी स्कंदकुमार स्नेह पाश से बंधे नहीं ।।१४१।।

गुरु गुरुतरो य अइगुरु, पियमाइअवच्चपियजणसिनेहो ।
चिंतिज्जमाणगुविलो, चत्तो अइधम्मतिसिएहिं ।।१४२।।

माता-पिता का, संतानों का और (पत्नी-बहन आदि) प्रियजन का स्नेह क्रमशः दुस्त्यज, विशेष दुस्त्यज और अत्यंत दुस्त्यज होता है (अति दुस्त्यजता का कारण जीव को इन आत्माओं पर विशेष राग होता है) इन सभी पर के स्नेह का विचार करने पर (दुःखद भवों की प्राप्ति का कारण होने से) अति गहन है। अतः धर्म के अतीव पिपासु आत्माओं ने उन पर का राग छोड़ दिया है। (अप्रशस्त स्नेह साधुधर्म से विरुद्ध है) ।।१४२।।

अमुणियपरमत्थाणं, बंधुजणसिनेहवइयरो होइ ।
अवगयसंसारसहाव-निच्छयाणं समं हिययं ।।१४३।।

जिन्होंने वस्तु=पदार्थ के स्वरूप को समझा नहीं उन्हीं को स्वजन प्रति स्नेह का बंधन होता है। (परंतु) संसार के स्वभाव को (क्षणभंगुररूप) समझने वाले का हृदय स्नेह=द्वेष रहित होता है। (स्वजन अनर्थकारी होने से उन पर का स्नेह व्यर्थ है) दृष्टांत रूप में— ।।१४३।।

माया पिया य भाया, भज्जा पुत्ता सुही य नियगा य।
इह चेव बहुविहाइं, करंति भयवेमणस्साइं ।।१४४।।

माता-पिता-भाई-भार्या-पुत्र-मित्र और दूसरे सगे-संम्बंधी यहाँ ही बहुविध त्रास देते है और विरोध भी करते है (जिसके निम्न दृष्टांत दर्शाये हैं)

।।१४४।।

माया नियगमइविगप्पियंमि, अत्थे अपूरमाणंमि ।

पुत्तस्स कुणइ वसणं, चुलणी जह बंभदत्तस्स ।।१४५।।

(माता –) माता स्वमति से चिंतन किया कार्य सिद्ध न हो तो पुत्र को आपत्ति में डाल देती है। जैसे माता चुलणी ने पुत्र ब्रह्मदत्त को विपत्ति में डाल दिया ।।१४५।।

सव्वंगोवंगविगत्तणाओ, जगडणविहेडणाओ अ ।

कासी अ रज्जतिसिओ, पुत्ताण पिया कणयकेऊ।।१४६।।

(पिता –) पिता कनककेतु राजा को चिरकाल की राज्य की ममता आ जाने से वह अपने पुत्रों के (राज्य के अयोग्य बनाने हेतु) सभी अंगोपांगों का छेदन–भेदनकर पीड़ा पहूँचाता था ।।१४६।।

विसयसुहरागवसओ, घोरो भाया वि भायरं हणइ ।

ओहाविओ वहत्थं, जह बाहुबलिस्स भरहवई ।।१४७।।

(भाई –) शब्दादि सुख समृद्धि के राग की परवशता से (हाथ में शस्त्र लेकर) भयंकर बना हुआ भाई सगे भाई को भी मार देता है। जैसे भरत चक्रवर्ति (चक्र लेकर) भाई बाहुबली को मारने दौड़ा ।।१४७।।

भज्जा वि इंदियविगार–दोसनडिया, करेइ पइपावं ।

जह सो पएसिराया, सूरियकंताइ तह वहिओ ।।१४८।।

(भार्या –) पत्नी भी इंद्रिय विकार के अपराध की परवशता से पति को मारने का पाप करती है, जैसे वह प्रदेशी राजा सूर्यकान्ता राणी के द्वारा उस प्रकार (विष देकर) मारा गया ।।१४८।।

सासयसुक्खतरस्सी, नियअंगस्समुब्भवेण पियपुत्तो ।

जह सो सेणियराया, कोणियरण्णा खयं नीओ ।।१४९।।

(पुत्र –) जैसे प्रिय पुत्र कोणिक राजा द्वारा पिता श्रेणिक राजा के अंग से उत्पन्न होने पर भी (क्षायिक सम्यक्त्व से) शाश्वत सुख की ओर प्रबल वेग से दौड़नेवाले ऐसा भी पिता श्रेणिक मारा गया ।।१४९।।

लुद्धा सकज्जतुरिआ, सुहिणो वि विसंवयंति कयकज्जा ।

जह चंदगुत्तगुरुणा, पव्वयओ घाइओ राया ।।१५०।।

(मित्र –) लोभी और स्वार्थ साधने में उत्साही मित्र गण भी कार्य पूर्ण होने पर फिर जाते हैं जैसे चंद्रगुप्त के गुरु चाणक्य ने नंदराजा को खत्म

करने के लिए मित्र बनाये हुए म्लेच्छ राजा पर्वत का (विष भोजित कन्या से विवाह करवाकर) घात किया ।।१५०।।

नियया वि नियय़कज्जे, विसंवयंतंमि हुंति खरफरुसा ।
जह रामसुभूमकओ, बंभक्खत्तस्स आसि खओ ।।१५१।।

अपने कहे जाते भी अपना कार्य बिगड़ जाने पर निष्ठुर कर्मी और कर्कशवादी बन जाते हैं। जैसे (पृथ्वी पर से) परशुराम द्वारा क्षत्रियों का (सप्तबार) और सुभूम द्वारा ब्राह्मणों का (२१ बार) नाश किया गया। (दोनों स्वजन होते हुए भी) ।।१५१।।

कुलघरनिययसुहेसु अ, सयणे अ जणे य निच्च मुणिवसहा।
विहरंति अणिस्साए, जह अज्जमहागिरी भयवं ।।१५२।।

इस कारण उत्तम मुनि कुटुंब, घर और स्वयं की सुखाकारीता और स्वजन और जन सामान्य के विषय में सदा निश्रा रखे बिना विचरते हैं जैसे महात्मा आचार्यमहागिरि ।।१५२।।

रुवेण जुव्वणेण य, कन्नाहि सुहेहिं वरसिरीए य ।
न य लुब्भंति सुविहिया, निदरिसणं जंबूनामुत्ति ।।१५३।।

सुविहित साधु सुंदर रूप से, यौवन से, 'य'=कलाओं से, गुणियल कन्याओं से, ऐहिक सुखों से और विशाल संपत्ति से (कोई आकर्षित करे तो भी) लोभित नहीं होते (इसमें) दृष्टांत रूप में जंबू नामक महामुनि (अतः साधुओं को ऐहिक सुख की स्पृहा रहित और **सुगुरु द्वारा नियंत्रित** अनेक साधुओं के मध्य रहना चाहिए ।।१५३।।

उत्तमकुलप्पसूया, रायकुलवडिंसगा वि मुणिवसहा ।
बहुजणजइसंघट्टं, मेहकुमारु व्व विसहंति ।।१५४।।

ऊँचे कुल में जन्म प्राप्त और राजकुल के अलंकार (तिलक) तुल्य ऐसे भी दीक्षित बने हुए उत्तम मुनि बहुत जन (विविध देश) के साधुओं की (सारणा-वारणादि या) संघट्टन आदि को समता पूर्वक सहन करते हैं जैसे मेघकुमार मुनि (अतः गच्छ में रहकर सहिष्णु बनना, नहीं तो क्षुद्रता का पोषण होता है) ।।१५४।।

अवरुप्परसंबाह सुक्खं, तुच्छं सरीरपीडा य ।
सारण वारण चोयण, गुरुजणआयत्तया य गणे ।।१५५।।

गच्छ में रहने से परस्पर घर्षण, सुख-सुविधा नहींवत्, परीसह की पीड़ा, सारणा (विस्मृत कर्तव्य को याद करवाना वारणा (निषिद्ध का वारण)

और चोयणा मृदुकठोर वचन से प्रेरणा) होती है और गुरुजन की आधीनता रहती है ।।१५५।।

इक्कस्स कओ धम्मो, सच्छंदगई मइपयारस्स? ।
किं या करेइ इक्को?, परिहरउ कहं अकज्जं या?।।१५६।।

(ऐसे कष्ट दायक गच्छवास से तो अकेले विचरना अच्छा? ऐसी विचार धारा वाले को कहा कि—नहीं, क्योंकि) एकाकी रहने से स्वेच्छा से बाह्य प्रवृत्ति और आपमति का ही प्रचार रहने से उसको धर्म कहाँ से हो? वैसे एकाकी क्या कर्तव्य बजायगा? और वह अकृत्य का त्याग भी क्या करेगा? ।।१५६।।

कत्तो सुत्तत्थागम-पडिपुच्छणचोयणा, य इक्कस? ।
विणओ वेयावच्चं, आराहणया य मरणंते ।।१५७।।

और (गुरुनिश्रा रहित) अकेला सूत्रार्थ की प्राप्ति किससे करें? (संशय) किससे पूछे? तर्क का समाधान किससे प्राप्त करें? विनय किसका करें? वैयावच्च किसकी करे? और मृत्यु के समय निर्यामणा किससे प्राप्त करें? ।।१५७।।

पिल्लिज्जेसणमिक्को, पइन्नपमयाजणाउ निच्चभयं ।
काउमणो वि अकज्जं, न तरइ काऊण बहुमज्झे ।।१५८।।

एकाकी विहारी तीनों एसणा का उल्लंघन करेगा, गोचरी दोषित होगी, चारों ओर से आकर्षित स्त्रियों से नित्य भय, (कामोपद्रव और चारित्ररूपी धननाश का भय) गच्छ में रहने से (अकार्य की इच्छा हो जाय तो भी) कर न सकें ।।१५८।।

उच्चारपासवणवंत-पित्तमुच्छाइमोहिओ इक्को ।
सद्दवभायणविहत्थो, निक्खिवइ य कुणइ उड्डाहं ।।१५९।।

स्थंडिल, मात्रुं, उल्टी या पित्त के उछाले से अचानक पीड़ा उत्पन्न होने पर गभराहट से शरीर हील उठने से एकाकी साधु हाथ में जलपात्र ले तब गिर पड़े तो संयम विराधना, आत्म विराधना, जल बिना स्थंडिलादि शुद्धि करे तो शासन हीलना हो जाती है ।।१५९।।

एगदिवसेण बहुआ, सुहा य असुहा य जीवपरिणामा ।
इक्को असुहपरिणओ, चइज्ज आलंबणं लद्धुं ।।१६०।।

(दूसरा यह भी हो सकता है) एक दिन में भी जीव में शुभाशुभ अनेक मानसिक वितर्क उत्पन्न होते हैं। इसमें अगर अकेला है तो संक्लिष्ट अध्यवसाय में चढ़ेगा और तुच्छ आलंबन पाकर संयम का त्याग करेगा

।।१६०।।

सव्वजिणप्पडिकुट्ठं, अणवत्था थेरकप्पभेओ अ ।
इक्को अ सुआउत्तोवि, हणइ तवसंजमं अइरा ।।१६१।।

(बड़ी बात यह भी है कि) सभी जिनेश्वर भगवंतों ने साधु को एकाकी विहार का निषेध किया है, क्योंकि इससे (जीव प्रमाद से भरे हुए होने से) दूसरों में भी एकाकी विहार की परंपरा चलती है। इससे स्थविर कल्प (गच्छवासिता) छिन्न-भिन्न हो जाता है और अच्छा अप्रमत्त साधु भी एकाकी होकर तप प्रधान संयम का नाश करेगा ।।१६१।।

वेसं जुण्णकुमारिं, पउत्थवइअं च बालविहवं च ।
पासंडरोहमसइं, नवतरुणिं थेरभज्जं च ।।१६२।।

वेश्या, प्रौढ कुमारी, पति परदेश हो वैसी, बालविधवा, जोगणी, कुलटा, नवयौवना, युवा पत्नी ।।१६२।।

सविडंकुब्भडरूवा, दिट्ठा मोहेइ जा मणं इत्थी ।
आयहियं चिंतंता, दूरयरेणं परिहरंति ।।१६३।।

शुभ अध्यवसाय से गिरा दे ऐसी उद्‌भटरूप और वेष धारी और दिखाई देने मात्र से मोहोत्पादक, इसमें से कोई भी स्त्री को आत्महित चाहक साधु दूर से तजता है। (जहाँ उसकी संभावना हो वहाँ से भी दूर रहते हैं कारण कि स्त्री से होने वाले अनर्थ सभी विषयराग का कारण होने से अती दीर्घ संसार भ्रमण का सर्जन होता है ।।१६३।।

सम्मद्दिट्ठी वि कयागमो वि, अइविसयरागसुहवसओ ।
भवसंकडंमि पविसइ, इत्थं तुह सच्चई नायं ।।१६४।।

'तत्त्वार्थ'=श्रद्धावान् भी, आगमज्ञ (गीतार्थ) भी शब्दादि विषयों के अतीव राग के वश हो जाय तो क्लेश मय संसार में गिरता है (हे शिष्य!) इस विषय में तुझे 'सत्यकी' विद्याधर का उदाहरण समझना (साधु होकर विषयासक्त बने तो अत्यंत अशुभ कर्मोपार्जन करता है) ।।१६४।।

सुतवस्सिया ण पूया-पणामसक्कारविणयकज्जपरो ।
बद्धं पि कम्ममसुहं, सिढिलेइ दसारनेया व ।।१६५।।

(गृहस्थ भी साधु की उपासना करते हुए कैसे लाभ प्राप्त करता है तो कहा कि) उत्तम साधुओं को वस्त्रादि से पूजा, वंदन, प्रणाम, स्तुति रूप सत्कार, विनय, इन कार्यों के करने में तत्पर (गृहस्थ भी) कृष्ण के समान बंधे हुए अशुभ कर्मों को शिथिल करता है ।।१६५।।

अभिगमणवंदणनमंसणेण, पडिपुच्छणेण साहूणं ।
चिरसंचियं पि कम्मं, खणेण विरलत्तणमुवेइ ॥१६६॥

आने वाले साधु के सामने जाने से, वंदन-गुण स्तुति करने से, नमस्कार-मन-काया से नमन करने से, शरीर की कुशलता पूछने से, अनेक जन्मों के अर्जित कर्म अल्प समय में कम हो जाते हैं ।।१६६।।

केइ सुसीला सुहम्माइ, सज्जणा गुरुजणस्स वि सुसीसा।
विउलं जणंति सद्धं, जह सीसो चंडरुद्दस्स ॥१६७॥

कितनेक सुशील, (इंद्रिय और मन की विशिष्ट समाधि युक्त) सुधर्मी, (ज्ञान-चारित्र रूपी धर्म युक्त) और अति संतजन (सभी को अमृत रूप होने से सज्जन) सुशिष्य गुरु जन को भी विशेष श्रद्धा उत्पन्न करवाने वाले होते हैं। जैसे चंडरुद्राचार्य का नूतन शिष्य ।।१६७।।

अंगारजीववहगो, कोइ कुगुरु सुसीसपरिवारो ।
सुमिणे जईहिं दिट्ठो, कोलो गयकलहपरिकिन्नो ॥१६८॥

कोयले की कंकरी को जीव मानकर हिंसा करने वाले कोई कुगुरु अंगारमर्दकाचार्य सुशिष्यों से युक्त दूसरे आचार्य के मुनियों को स्वप्न में एक डुक्कर को गज कलभो से सेवित देखा। (इस पर से आचार्य के कहने से वह पहचाना गया) ।।१६८।।

सो उग्गभवसमुद्दे, सयंवरमुवागएहिं राएहिं ।
करहो वक्खरभरिओ, दिट्ठो पोराणसीसेहिं ॥१६९॥

वह (अंगारमर्दकाचार्य) रौद्र संसार सागर में (भ्रमण करते) ऊँट बना। वह अधिक सामान पीठ पर लिये हुए पूर्व भव के शिष्य जो राजा बने थें और स्वयंवर में आये हुए उनके द्वारा देखा गया। (आचार्य बन जाने पर भी संक्लिष्ट परिणाम युक्त कैसे? कारण था वह भवाभिनंदी (अभवी) आत्मा था ।।१६९।।

संसारवंचणा न वि, गणंति संसारसूअरा जीवा ।
सुमिणगएण वि केई, बुज्झंती पुप्फचूला व्व ॥१७०॥

संसार के (विषय-विष्ठा-गृद्ध) भूंड जैसे जीव संसार (इस भव) से (नरकादि स्थान प्रासि द्वारा) ठगे जाते है तब कितनेक स्वप्न में देखे हुए (नरकादि) से भी प्रतिबोधित (संसार से विरक्त) हो जाते हैं। जैसे (राणी) पुष्पचूला। (लघुकर्मी जीव जागृत दशा में गुरु उपदेश से प्रतिबोधित हो उसमें पूछना ही क्या?) ।।१७०।।

जो अविकलं तवं संजमं च, साहू करिज्ज पच्छा वि ।
अन्नियसुओ व्व सो नियगमट्ठमचिरेण साहेइ ॥१७१॥

जो साधु अखंडित तप और संयम (छजीवनिकाय रक्षा) की आराधना करता है। वह अंत समय में भी अर्णिका पुत्र आचार्य के समान अपने प्रयोजन को शीघ्र साधते हैं ॥१७१॥

सुहिओ न चयइ भोए, चयइ जहा दुक्खिओ त्ति अलियमिणं।
चिक्कणकम्मोलित्तो, न इमो न इमो परिच्चयइ॥१७२॥

'सुखी जीव भोग सुख नहीं छोड़ते, जैसे दुःखी जीव छोड़ देते हैं" ऐसा कहना यह असत्य वचन है (क्योंकि) निकाचित कर्मों से लिप्त सुखी हो या दुःखी जीव भोगों को नहीं छोड़ सकता । (भोग त्याग में तो लघुकर्मीपना ही कारण है (सुख दुःख नहीं) ॥१७२॥

जह चयइ चक्कवट्टी, पवित्थरं तत्तियं मुहुत्तेण ।
न चयइ तहा अहन्नो, दुब्बुद्धी खप्परं दमओ ॥१७३॥

(दृष्टांत में) जैसे महासुखी चक्रवर्ती छः खंड पृथ्वी का विस्तार क्षणमात्र में छोड़ देता है परंतु भिक्षुक भीक्षा मांगने का ठीकरा भी नहीं छोड़ सकता ॥१७३॥

देहो पिवीलियाहिं, चिलाइपुत्तस्स चालणी व्व कओ ।
तणुओ वि मणपओसो, न चालिओ तेण ताणुवरिं॥१७४॥

[कर्म हल्के हो जाने पर तो जीव संयम रक्षार्थे शरीर को भी छोड़ देते हैं जैसे] चिलाती पुत्र के शरीर को चींटीयों ने चालणी जैसा बना देने पर भी उस महात्मा ने मन में भी उन चींटीयों पर द्वेष-अभाव आने न दिया ॥१७४॥

पाणच्चए वि पावं, पिवीलियाए वि जे न इच्छंति ।
ते कह जई अपावा, पावाइं करेंति अन्नस्स? ॥१७५॥

जो प्राणांत के समय भी चींटी जैसे जीव प्रति भी द्वेष की इच्छा नहीं करते वे निष्पाप (सावद्यत्यागी) मुनि भगवंत दूसरे के प्रति अपराध कैसे करेंगे? ॥१७५॥

जिणपहअपंडियाणं, पाणहराणं पि पहरमाणाणं ।
न करंति य पावाइं, पावस्स फलं वियाणंता ॥१७६॥

[निरपराधी को न दंडे पर अपराधी को कैसे सहन करे? तब कहा-

-] पाप फल (रौरव नरकादि) को जो जानते हैं वे जिन कथित मार्ग से अज्ञ और जीव घातक ऐसे शस्त्र से प्रहार करने वालों के प्रति भी (द्रोह का विचार, मारने का चिंतन आदि) पाप नहीं करते (विपरीत यहाँ करुणा का चिंतन करते है कि—अरे यह बेचारा मेरा निमित्त पाकर पापकर नरक में गिरेगा?) ।।१७६।।

वहमारणअब्भक्खाण-दाणपरधणविलोवणाईणं ।
सव्वजहन्नो उदओ, दसगुणिओ इक्कसि कयाणं ।।१७७।।

ताडना, प्राणनाश, अभ्याख्यान, परधन-हरण (आदि पद से अन्य मर्मोद्घाटन आदि) एक बार सेवन से कम से कम विपाक दस गुना आता है। (जैसे एक बार मारने वाला दस बार मारा जाता है) ।।१७७।।

तिव्वयरे उ पओसे, सयगुणिओ सयसहस्सकोडिगुणो ।
कोडाकोडिगुणो वा, हुज्ज विवागो बहुतरो वा ।।१७८।।

तब जो अत्यधिक द्वेष हो तो (किये पाप का) सो गुना, लाख गुना, क्रोड गुना, या क्रोडा क्रोड गुना फल भोगना पड़ता है, या उससे भी अधिकतर भोगना पड़ता है। (इस कारण राग ही उत्पन्न न हो, रागद्वेष के संक्लेश ही उत्पन्न न हो वैसे अप्रमत्त रहना चाहिए ।।१७८।।

केइत्थ करेंतालंबणं, इमं तिहुयणस्स अच्छेरं ।
जह नियमा खवियंगी, मरुदेवी भगवई सिद्धा ।।१७९।।

कितनेक इस विषय में (क्वचित् बनने वाले) आश्चर्यकर घटना का आधार लेते हैं जैसे कि भगवती मरुदेवा माता ने यम, नियम पालन (तप संयम के कष्ट द्वारा देह दमन) से कर्मक्षय किये बिना वैसे ही शुभ भाव से कर्म क्षयकर मोक्ष प्राप्त किया। (इरा प्रकार हमारा भी मोक्ष हो जायगा। तप, संयम रूपी कष्ट सहन की क्या आवश्यकता?) ।।१७९।।

किं पि कहिं पि कयाई, एगे लद्धीहिं केहि वि निभेहिं।
पत्तेयबुद्धलाभा, हवंति अच्छेरयब्भूया ।।१८०।।

(ऐसा आलंबन लेना अयोग्य है क्योंकि—) कभी कोई स्थान पर कोई व्यक्ति (वृषभादि पदार्थ) देखकर (करकंडु जैसे) प्रत्येक बुद्धता के लाभवाले बनें और कोई वैसी लब्धिरूप निमित्तों से बनें। उससे वैसे आलंबन से प्रमादी न बनना, नहीं तो मोक्ष ही नहीं होगा) ।।१८०।।

निहिं संपत्तमहन्नो, पत्थिंतो जह जणो निरुत्तप्पो ।
इह नासइ तह पत्तेअ-बुद्धलच्छिं पडिच्छंतो ।।१८१।।

(देवताधिष्ठित) रत्नादि निधान के पास में आया हुआ कोई निर्भागी उस निधान को प्राप्त करने की इच्छा वाला भी 'निरुत्तप्पो'=(उसकी पूजा बलि आदि के) उद्यम बिना इस लोक में नष्ट होता है। (निधि लाभ गंवांकर हांसी पात्र बनता है) इस प्रकार प्रत्येक बुद्धपने के लाभ की राह देखने वाला (तप, संयम के उद्यम से रहित) नष्ट होता है (निधि समान मोक्ष न पाकर तप, संयम के उद्यम बिना सन्मार्ग से भ्रष्ट होता है ।।१८१।।

सोऊण गइं सुकुमालियाए, तह ससगभसगभइणीए ।
ताव न विससियव्वं, सेयट्ठी धम्मिओ जाव ।।१८२।।

शशक-भशक की बहन सुकुमालिका साध्वी की (मूर्च्छित-दशा में सहज भ्रातृ स्पर्शना के सुखद संवेदन से अति भ्रष्टावस्था सुनकर धर्मचारी को 'सेयट्ठी'=श्वेतास्थि=मृत न हो वहाँ तक अथवा श्रेयार्थी (मोक्षार्थी) धार्मिक यति (जीवंत) हो वहाँ तक रागादि का विश्वास न करना। (रागादि से डरते रहना) ।।१८२।।

खरकरहतुरयवसहा, मत्तगइंदा वि नाम दम्मंति ।
इक्को नवरि न दम्मइ, निरंकुसो अप्पणो अप्पा।।१८३।।

गधा, ऊँट, अश्व, बैल और उन्मत्त हाथी को वश किया जाता है। मात्र निरंकुश (तप-संयम के अंकुश से रहित) स्वयं की आत्मा वश नहीं होती। [यह महान् आश्चर्य है] ।।१८३।।

वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।
मा हं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि य ।।१८४।।

(वास्तव में सोचना कि—) श्रेष्ठ यही है कि मुझे ही मेरे आत्मा का संयम और तप के द्वारा दमन करना चाहिए जिससे मैं दूसरों के द्वारा दुर्गतियों में (बेडियों आदि से) बंधन में जकड़ा न जाऊँ (चाबुक आदि से) मारा जाकर दमन न किया जाऊँ ।।१८४।।उत्तरा० १/१६।।

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ।।१८५।।

कर्तव्य यही है कि—स्वयं के आत्मा का दमन करना अति आवयक है। क्योंकि (बाह्य शत्रु का दमन सहज है, परंतु स्वयं के) आत्मा का ही दमन मुश्कील है। दमन किया हुआ आत्मा यहाँ और परलोक में सुखी होता है ।।१८५।।उत्तरा० १/१५।।

निच्चं दोससहगओ, जीवो अविरहियमसुभपरिणामो ।
नवरं दिन्ने पसरे, तो देइ पमायमयरेसु ॥१८६॥

(आत्म दमन बिना आत्मा) सदा रागादि दोष से ग्रसित और सतत संक्लिष्ट अध्यवसाय युक्त रहता है। मात्र उसको (यथेष्ट चेष्टा को) महत्त्व देने से लोक विरुद्ध-शास्त्र विरुद्ध कार्यों में (विषय कषाय, प्रवृत्ति रूप) प्रमाद का आचरण होता है (यानि वे कार्य विशेष रूप से होते है) ॥१८६॥

अच्चियवंदिय पूइअ, सक्कारिय पणमिओ महग्घविओ ।
तं तह करेइ जीवो, पाडेइ जहप्पणो ठाणं ॥१८७॥

(प्रमाद क्या करता है?) जीव चंदनादि से अर्चित होता है। गुण स्तुति से वंदित होता है। वस्त्रादि से पूजित, अभ्युत्थानादि से सत्कारित, मस्तक से नमस्कार पाये और (आचार्यादि पदवी आदि से) महामूल्यवान् बनें। तब वह मूढ़ जीव दुष्ट आचरण करता है (वंदनादि करने वालों में अधम के रूप में निंदित होता है) ॥१८७॥

सीलव्वयाइं जो बहुफलाइँ, हंतूण सुक्खमहिलसइ ।
धिइदुब्बलो तवस्सी, कोडीए कागिणिं किणइ ॥१८८॥

(स्वर्ग मोक्ष-पर्यंत के) अधिक फल दायक मूलव्रत उत्तर गुणों का नाशकर जो (तुच्छ वैषयिक) सुख को इच्छता है। वह विशिष्ट चित्त स्थिरता बिना का बेचारा क्रोड़ के धन से काकिणी (१ रूपये का ८०वाँ भाग) को खरीदता है (ऐसे जीवों को विषयों से तृप्ति तो नहीं होती, विपरीत भोगों से श्रम बढ़ता हैं। इंद्रियों की अस्वस्थता बढ़ती है क्योंकि) ॥१८८॥

जीवो जहामणसियं, हियइच्छियपत्थिएहिं सुक्खेहिं ।
तोसेऊण न तीरइ जावज्जीवेण सव्वेण ॥१८९॥

संसारी जीव को 'यथामनस्कृत'=चिंतित हृदय को इष्ट और प्राथित (विषय) सुख संपूर्ण जीवन पर्यंत भी प्राप्त हो जाय तो भी संतोष नहीं होता। (दिन, महिनों तक सुख मिलने पर भी संतुष्ठी नहीं होती) ॥१८९॥

सुमिणंतराणुभूयं, सुक्खं समइच्छियं जहा नत्थि ।
एवमिमं पि अईयं, सुक्खं सुमिणोवमं होइ ॥१९०॥

जैसे स्वप्न में भोगा सुख स्वप्न चले जाने पर नहीं रहता। वैसे यह (वैषयिक सुख) भी चले जाने पर स्वप्न सुख के समान नहीं रहता। [क्योंकि तुच्छ है अतः उस पर आस्था नहीं करनी। नहीं तो—] ॥१९०॥

पुरनिद्धमणे जक्खो, महुरामंगू तहेव सुयनिहसो ।
बोहेइ सुविहियजणं, विसूरइ बहुं च हियएणं ।।१९१।।

श्रुत के कसोटी पत्थर जैसे (अर्थात् दूसरों को स्वश्रुत के परीक्षा स्थान ऐसे महान् श्रुतधर) आचार्य मंगु भी उसी प्रकार (जिह्वावश) मथुरा में नगर की गटर के यक्ष बनें। जो (अपने शिष्य) साधु समुदाय को (पीछे से) बोध देते हैं। और (स्वयं की अवदशा के लिए) हृदय से अति संताप करते हैं ।।१९१।।

निग्गंतूण घराओ, न कओ धम्मो मए जिणक्खाओ ।
इड्ढिरससायगरुयत्तणेण, न य चेइओ अप्पा ।।१९२।।

वह यक्ष संताप करता है कि—मैंने गृहवास से नीकलकर जिन कथित धर्म की पूर्णरूप से आराधना नहीं की और ऋद्धि (शिष्यादि संपत्ति), रस (खट्टे मीठे भोजन) और शाता (मुलायम शय्यादि के सुख) इन तीन गारव से भारी अर्थात् उसका आदरवाला बनकर मैंने मेरे आत्मा को पहचाना नहीं ।।१९२।।

ओसन्नविहारेणं, हा जह झीणंमि आउए सव्वे ।
किं काहामि अहन्नो? संपइ सोयामि अप्पाणं ।।१९३।।

(आत्मा को इस प्रकार नहीं पहचाना कि) हाय! शिथिल विहारीपने से मैं ऐसा रहा कि मेरा सर्व आयुष्य पूर्ण हो गया। अब मैं अभागी क्या करूंगा? अब तो मुझे मेरे आत्मा में शोक करना ही रहा ।।१९३।।

हा जीव! पाव भमिहिसि, जाइजोणिसयाइं बहुआइं ।
भयसयसहस्सदुलहं पि, जिणमयं एरिसं लद्धुं ।।१९४।।

हे जीव! खेद होता है कि तूं पापी दूरात्मा! लाखों भवों में दुष्प्राप्य ऐसे (अचिंत्य चिंतामणि समान) जिनागम प्राप्तकर भी उस पर अमल न करने से अनेक शत (एकेन्द्रियादि) जाति और (शीतोष्णादि) योनियों में भ्रमण करेगा ।।१९४।।

पावो पमायवसओ, जीवो संसारकज्जमुज्जुत्तो ।
दुक्खेहिं न निव्विण्णो, सुक्खेहिं न चेव परितुट्ठो।।१९५।।

(और) जीव (कषायादि) प्रमादवश होकर संसारवेधक कार्यों में रक्त बनकर दुःख भोगने पड़े फिर भी उससे तुझे निर्वेद नहीं हुआ (नहीं तो दुःख के कारणों में बार-बार प्रवृत्ति कैसे करता?) सुख मिलने पर भी संतोष नहीं हुआ। (नहीं तो सुख मिलने पर अधिक तृष्णा कैसे खड़ी रहती?) (च शब्द

से मोक्ष के हेतु से विमुख रहा है) ॥१९५॥

परितप्पिएण तणुओ, साहारो जइ घणं न उज्जमइ ।
सेणियराया तं तह, परितप्पंतो गओ नरयं ॥१९६॥

जो तप संयम में अप्रमत्तता पूर्वक गाढ़ उद्यम न करें तो केवल परिताप से (पाप का संताप) अत्यल्प रक्षण होगा। (दृष्टांत) श्रेणिक राजा (वैसे तप-संयम के उद्यम बिना) आत्म निंदा करने पर भी नरक में गये ॥१९६॥

जीवेण जाणिउ विसज्जियाणि, जाइसएसु देहाणि ।
थोवेहिं तओ सयलंपि, तिहुयणं हुज्ज पडिहत्थं ॥१९७॥

(दुःखों से भव निर्वेद प्राप्त करने के लिए ऐसा विचार कर कि) शताधिक जातियों में जीव ने शरीर छोड़े उसमें से (अनंतवें भाग के शरीरों से) अल्प भी शरीरों से तीनों जगत 'पडिहत्थ' पूर्ण रूप से भर जाय। (आश्चर्य है कि फिर भी जीव को संतोष नहीं) ॥१९७॥

नहदंतमंसकेसट्ठिएसु, जीवेण विप्पमुक्केसु ।
तेसु वि हविज्ज कइलास-मेरुगिरिसन्निभा कूडा ॥१९८॥

इस जीव ने (अनादि संसार में जितने) नख, दांत, मांस, केश, हड्डियाँ छोड़ दी हैं कि उससे भी बड़े कैलाश मेरु पर्वत जैसे स्तूप हो जाय ॥१९८॥

हिमवंतमलयमंदर-दीवोदहिधरणिसरिसरासीओ ।
अहिअयरो आहारो, छुहिएणाहारिओ होज्जा ॥१९९॥

इस जीवने क्षुधा पीड़ित होकर जितना आहार लिया उससे हिमवंत पर्वत, मलयाचल, मेरु पर्वत, द्वीप, समुद्र और पृथ्वीयों की समान राशि से अधिक राशि हो जाय ॥१९९॥

जं णेण जलं पीयं, घम्मायवजगडिएण तंपि इहं ।
सव्वेसु वि अगडतलाय-नईसमुद्देसु नवि हुज्जा ॥२००॥

इस जीव ने ग्रीष्म के आतप से अभिभूत होकर जितना पानी पिया है उतना पानी इस लोक के कूएँ तलाब नदी और समुद्रों में भी नहीं समा सकता ॥२००॥

पीयं थणयच्छीरं, सागरसलिलाओ होज्ज बहुअयरं ।
संसारम्मि अणंते, माऊणं अन्नमन्नाणं ॥२०१॥

जिसकी आदि उपलब्ध नहीं है ऐसे संसार में अन्यान्य जन्मों में हो

गयी माताओं के स्तन का दूध जो पीया वह (सभी) समुद्रों के जल से भी अति अधिक है ।।२०१।।

पत्ता य कामभोगा, कालमणंतं इहं सउवभोगा ।
अपुव्वं पिव मन्नइ, तहवि य जीवो मणे सुक्खं।।२०२।।

इस जीवने अनंत काल संसार में शब्दादि विषयों के भोगों को प्राप्त किये और उनको भोगे भी फिर भी जीव मन में विषय सुख को पूर्व में देखे ही न हो ऐसा समझता हैं ।।२०२।।

जाणइ य जहा, भोगिड्ढिसंपया सव्वमेव धम्मफलं ।
तहवि दढमूढहियओ, पावे कम्मे जणो रमइ ।।२०३।।

जीव जानता है 'च' देखता है कि ''उत्कृष्ट शब्दादि विषयों की प्राप्ति, अरे इतना ही क्या सभी सुंदर योगों की प्राप्ति (सुगुरु योग आदि) यह धर्म का फल है'' फिर भी गाढ़ता पूर्वक 'मूढ' भ्रांत चित्तवाले लोग पाप कार्यों में रक्त रहते हैं ।।२०३।।

जाणिज्जइ चिंतिज्जइ, जम्मजरामरणसंभवं दुक्खं ।
न य विसएसु विरज्जइ, अहो सुबद्धो कवडगंठी।।२०४।।

(सद्गुरु उपदेश से) जानता है कि (बुद्धि से) मन में बैठता है कि (विषय संग से) जन्म, जरा, मृत्यु से होने वाले दुःख उत्पन्न होते हैं। फिर भी (लोक) विषयों से विरक्त नहीं होते (तब कहना पड़ता है कि) अहो मोह ग्रंथी कितनी कठिन बंधी हुई है ।।२०४।।

जाणइ य जह मरिज्जइ, अमरंतंपि हु ज़रा विणासेइ ।
न य उव्विग्गो लोगो, अहो! रहस्सं सुनिम्मायं ।।२०५।।

यह भी खयाल है कि मरना है और मृत्यु न हो वहाँ तक भी जरावस्था, सफेद बाल, करचली आदि विनाशकारी कार्य होते हैं। फिर भी लोग (विषयों से) उद्वेग नहीं पाते तब अहो (हे विवेकी जन देखो कि) इसका रहस्य कितना दुर्गम है! ।।२०५।।

दुपयं चउप्पयं बहु-पयं, च अपयं समिद्धमहणं वा ।
अणयकएडवि कयंतो, हरइ हयासो अपरितंतो ।।२०६।।

हरामी यमराज का कुछ भी बिगाड़ा नहीं फिर भी यह द्विपद, बहुपद वाले (भ्रमरादि) को और अपद (सर्पादि) को वैसे ही समृद्धिवान् को, निर्धन को अविश्रांति पूर्वक ले जाता है ।।२०६।।

न य नज्जइ सो दियहो, मरियव्वं चाऽवसेण सव्वेण ।
आसापासपरद्धो, न करेइ य जं हियं बज्झो ॥२०७॥

उस दिन का खयाल नहीं है कि जब सभी को परवशता से (अनिच्छा से) मरना है। ऐसा होते हुए भी (जीव) आशा के पाश से बंधा हुआ, आत्महित का जो आचरण नहीं करते वे 'वध्यः' मृत्यु के लिए ही उत्पन्न हुए है ॥२०७॥

संझरागजलबुब्बुओवमे, जीविए य जलबिंदुचंचले ।
जुव्वणे य नईवेगसन्निभे, पाव जीव! किमियं न बुज्झसि॥२०८॥

संध्या का रंग पानी के परपोटे के समान (घास पर) जलबिन्दु समान आयुष्य चंचल है, युवानी नदी के वेग तुल्य है। (तो) हे पापी जीव! (यह देखता हुआ भी) क्यों बोध नहीं पाता? (यह भ्रम प्रायः गाढ कामराग से होता है, अतः यह विचारकर कि—) ॥२०८॥

जं जं नज्जइ असुइं, लज्जिज्जइ कुच्छणिज्जमेयं ति ।
तं तं मग्गइ अंगं, नवरमणंगुत्थ पडिकूलो ॥२०९॥

जो-जो अंग बालक को भी अशुचिमय अशुद्ध समज में आता है, और यह दुर्गंधनीय है' इससे लज्जा का अनुभव होता है। उस (स्त्री के) दुर्गंछनीय अंग की ही इच्छा की जाती है। इसमें मात्र अनंग-कामवासना की वक्रता ही काम करती है। (क्योंकि यह काम अशुचि में सुंदरता का भ्रम पैदा करता है) ॥२०९॥

सव्वगहाणं पभवो, महागहो सव्वदोसपायट्टी ।
कामग्गहो दुरप्पा जेणभिभूयं जगं सव्वं ॥२१०॥

सभी उन्मादो का उत्पत्ति स्थान ऐसा महा उन्माद कौन सा? सभी दोषों का प्रवर्तक कौन? तो कहा कि 'दुरात्मा काम का उन्माद' जिसने संपूर्ण जगत को वश में किया है ॥२१०॥

जो सेवइ किं लहइ? थामं हारेइ दुब्बलो होइ ।
पावेइ वेमणस्सं, दुक्खाणि य अत्तदोसेणं ॥२११॥

इस काम का जो सेवन करता है वह क्या पाता है? (अर्थात् वास्तविक तृप्ति आदि कुछ नहीं पाता केवल) बल गंवांता है, उससे दुर्बल होता है, और चित्तोद्वेग और (क्षय रोगादि) दुःख पाता है। जो भी पाता है वह स्वयं के गुन्हे से पाता है? ॥२११॥

जह कच्छुल्लो कच्छुं, कंडुयमाणो दुहं मुणइ सुक्खं ।
मोहाउरा मणुस्सा, तह कामदुहं सुहं बिंति ॥२१२॥

(और) जैसे खस-खुजलीवाला उसे खनता है तब उस रोग के दुःख को सुख मानता है, वैसे काम वासना जनित भ्रमवाला मनुष्य कामाग्नि के दुःख को सुख कहता है (कामवासना वास्तव में भयंकर है) ।।२१२।।

विसयविसं हलाहलं, विसयविसं उक्कडं पियंताणं ।
विसयविसाइन्नं पिव, विसयविसविसूइया होइ ॥२१३॥

शब्दादि विषय (मारक होने से) विष है, यही (शीघ्र घाती होने से) हलाहल है, 'उत्कृष्ट' तीव्र-उग्र, 'विशद'=स्पष्ट, लोक प्रसिद्ध, (ताल पूटादि) विष पीने वाले को यह विशद विष का अजीर्ण होता है। (अर्थात् विष का पाचन न होने से मारने वाला बनता है) ऐसे विषयो रूपी विष का सेवन करने वाले को विसूचिका (अजीर्ण यानि अनंत मरण) होता है ।।२१३।।

एवं तु पंचहिं आसवेहिं, रयमायणित्तु अणुसमयं ।
चउगइदुहपेरंतं, अणुपरियट्टंति संसारे ॥२१४॥

इस प्रकार जीव (पाँच इंद्रिय या पाँच हिंसादि) आश्रवों से समय-समय पर कर्मरज इकट्ठी कर फिर संसार में चार गति के दुःख की पराकाष्ठा पाने तक भ्रमण करता है ।।२१४।।

सव्वगईपक्खंदे, काहंति अणंतए अकयपुण्णा ।
जे य न सुणंति धम्मं सोऊणं य जे पमायंति ॥२१५॥

जो (जिनोक्त) धर्म का श्रवण नहीं करते और जो श्रवण कर प्रमाद (शिथिलता) करते हैं, वे पुण्यहीन जीव अनंत (संसार) में सभी गतियों में भ्रमण करते रहेंगे। (यह तो धर्म पाने पर भी अनर्थ! परंतु धर्म नहीं पाया है जिसने उसे विशेष अनर्थ? तो कहा- ।।२१५।।

अणुसिट्ठा य बहुविहं, मिच्छद्दिट्ठी य जे नरा अहमा ।
बद्धनिकाइयकम्मा, सुणंति धम्मं न य करंति ॥२१६॥

अनेक प्रकार से हितशिक्षा देने पर भी जो 'मिथ्यादृष्टि'=बुद्धिविपर्यासवाले नीच मनुष्य है (वे तो अनंत संसार में सर्व गतियों में भ्रमण करेंगे, क्योंकि) वे बद्ध और निकाचित कर्मवाले होने से (अब कदाच वैसे संयोग मिलने पर दूसरों के आग्रह से) धर्म श्रवण करे परंतु धर्म करते ही नहीं। (धर्म करने वाले को क्या लाभ? तो कहा कि) ।।२१६।।

पंचेव उज्झिऊणं पंचेव, य रक्खिऊण भावेणं ।
कम्मरयविप्पमुक्का, सिद्धिगइमणुत्तरं पत्ता ॥२१७॥

जिसने धर्म किया वे भाव पूर्वक (हिंसादि) पाँच का त्यागकर और (अहिंसादि या स्पर्शनादि) पाँच की रक्षा कर, कर्मरज से मुक्त होकर सर्वोच्च सिद्धि गति को पा गये ।।२१७।।

नाणे दंसणचरणे तवसंजमसमिइगुत्तिपच्छित्ते ।
दमउस्सग्गववाए, दव्वाइ अभिग्गहे चेव ॥२१८॥

(विस्तार से ज्ञानादि मुक्ति-कारणों में जो स्थित है। उनका जन्म मोक्ष के लिए होता है।) जो ज्ञान में, दर्शन में, चरण में (आचरण में), तप में (पृथ्वी कायादि के संरक्षणादि) संयम में, पाँच समिति में, तीन गुप्ति में (आलोचनादि) प्रायश्चित्त में, इंद्रिय दमन में, उत्सर्ग मार्ग के अनुष्ठान में, आवश्यक अपवाद मार्ग के अनुष्ठान में, द्रव्यादि चार प्रकार के अभिग्रह में ।।२१८।।

सद्दहणाचरणाए निच्चं, उज्जुत्तएसणाइ ठिओ ।
तस्स भवोअहितरणं, पव्वज्जाए य सम्मं तु ॥२१९॥

श्रद्धा सहित आचरण में, सतत उपयोगवंत होकर निर्दोष गवेषणा में, जो रहा हुआ है। उसी का ही मानव जन्म संसार सागर तैरने के लिए होता है और प्रव्रज्या का स्वीकार भी वही भवसमुद्र तैरने का सम्यग् उपाय है (यहाँ दर्शन कहने के पश्चात् श्रद्धावान् कहा वह जिसकी आचरणा न हो सके उसकी श्रद्धा रखने के लिए कहा) ।।२१९।।

जे घरसरणपसत्ता, छक्कायरिऊ सकिंचणा अजया ।
नवरं मोत्तूण घरं, घरसंकमणं कयं तेहिं ॥२२०॥

(अणगार=अगार=घर उसका त्यागी होने पर भी) जो घर मरम्मत में लग गये है वे (पृथ्वीकायादि) षट्काय के शत्रु है, परिग्रहधारी है, और मन, वचन, काया की यतना (संयम) बिना के है। उन्होंने तो मात्र एक घर छोड़कर दूसरे घर में ही संक्रमण किया। (कहा जाता है यह उनके लिए महान् अनर्थ के लिए है क्योंकि—) ।।२२०।।

उस्सुत्तमायरंतो, बंधइ कम्मं सुचिक्कणं जीवो ।
संसारं च पवड्ढइ, मायामोसं च कुव्वइ य ॥२२१॥

जिनागम-निरपेक्ष (जिन वचन से विपरीत) आचरण करें, (अर्थात् अकार्य करे) वह जीव गाढ़ चिकने कर्म बांधता है और उससे भव भ्रमण

बढ़ता है और वह मायामृषा का सेवन भी करता है ।।२२१।। (क्योंकि प्रथम 'मैं सूत्रोक्त करूंगा' ऐसा कबूलकर अब उत्सूत्र आचरण में जाता है।)

जइ गिण्हइ वयलोवो, अहव न गिण्हइ सरीरवुच्छेओ ।
पासत्थसंगमोऽवि य, वयलोवो तो वरमसंगो ।।२२२।।

(उत्सूत्र सेवी पासत्था के आहार-पानी वस्त्रादि) जो ले तों (आधाकर्मादि-दोष और आगम निरक्षेपता की अनुमोदना से) व्रत का लोप हो जाता है और जो न ले तो शरीर को कष्ट पहुँचे। अरे! पासत्था के बीच में जाकर रहना यह भी व्रतलोप वाला है। (क्योंकि ''असंकिलिट्ठेहिं समं न वसेज्जा मुणि, चरितस्स जओ न हाणी'' ऐसी जिनाज्ञा के भंगरूप है) उससे श्रेयस्कर यही है क प्रथम से ही ऐसों के साथ होना ही नहीं, उनसे मिलना ही नहीं ।।२२२।।

आलावो संवासो, वीसंभो संथवो पसंगो य ।
हीणायारेहिं समं, सव्वजिणिंदेहिं पडिकुट्ठो ।।२२३।।

आचार हीनों के साथ बातचीत, एक मकान में रहना, मनमेल-बात, विश्राम, परिचय और प्रसंग (वस्त्रादि की लेन-देन) इन सबका सभी जिनेश्वरों ने निषेध किया है ।।२२३।।

अन्नुन्नजंपिएहिं, हसिउद्धसिएहिं खिप्पमाणो य ।
पासत्थमज्झयारे, बलाऽवि जइ वाउली होइ ।।२२४।।

पासत्थाओं के मध्य में रहने से सुसाधु बलात (अनिच्छा से) भी कुसंग के प्रभाव से परस्पर बातचित में गिरता है और (हर्ष के उल्लास में उसके साथ) हंसना होता है। उससे रोमांच का अनुभव होता है। उससे व्याकुलता होती है। (धर्म स्थैर्य से चूक जाता है) ।।२२४।।

लोएऽवि कुसंसग्गी, पियं जणं दुन्नियच्छमइवसणं ।
निंदइ निरुज्जमं, पिय-कुसीलजणमेव साहुजणो ।।२२५।।

लोग भी दुर्जन की संगत के प्रेमी को, 'दुन्नियच्छ'=उद्भट वेषधारी को और अति व्यसनी को निंदते हैं। (घृणा करते हैं) ऐसे सुसाधु के मध्य में रहने पर भी निरुद्यमी (शिथिलाचारी) की और कुशीलवान से प्रेम रखने वाले की साधुजन घृणा करते हैं ।।२२५।।

निच्चं संकियभीओ, गम्मो सव्वस्स खलियचारित्तो ।
साहुजणस्स अवमओ, मओऽवि पुण दुग्गइं जाइ ।।२२६।।

चारित्र की स्खलनावान् व्यक्ति सदा (यह मेरी बात करता होगा ऐसी) शंकाशील रहता है और (गच्छबाहर होने के) भय युक्त होता है। उसी प्रकार (बालक सहित) सभी से पराभव पानेवाला बनता है। साधुजन को अमान्य बनता है और आयुष्य पूर्ण कर (नरकादि) दुर्गतियों में जाता है। ('पुण'=अनंत संसारी भी बनता है) ।।२२६।।

गिरिसुयपुप्फसुआणं, सुविहिय! आहरणकारणविहन्नु ।
यज्जेज्ज सीलविगले, उज्जुयसीले हविज्ज जई ।।२२७।।

(एक ही मेना के दो पोपट उसमें एक म्लेच्छों के संग गिरिशुक नाम से अपशब्द बोलने सीखे, दूसरा तापसों के संग में रहा हुआ पुष्प शुक नाम से शिष्ट शब्द बोलने सीखे) गिरिशुक और पुष्पशुक के दृष्टांत से और उनके कारणों को जानने वाला तूं हे सुविहित! शील रहित (पासत्थादि) के संग का त्याग कर और उद्यत आचारवान बन ।।२२७।।

ओसन्नचरणकरणं जइणो, वंदंति कारणं पप्प ।
जे सुविइयपरमंत्था, ते वंदंते नियारेंति ।।२२८।।

मूल गुण-उत्तर गुण में शिथिल साधु को सुविहित मुनि कोई (संयमादि) कारण पाकर वंदन करते हैं। (अलबत् वे शिथिल मुनियों में यह वंदन लेना हमारे लिए महा अनर्थकर है ऐसा) जो आगम रहस्य के अच्छे ज्ञाता है वे वंदन करते सुविहित मुनियों को रोकते हैं ।।२२८।।

सुविहियवंदावंतो, नासेइ अप्पयं तु सुपहाओ ।
दुविहपहविप्पमुक्को, कहमप्प न याणई मूढो ।।२२९।।

(स्वयं शिथिल होते हुए) सुविहित मुनियों से वंदन करवाने वाला (वंदन करने वालों को नहीं रोकने वाला) स्वयं की आत्मा को सुपथ-रत्नत्रयी में से भ्रष्ट करता है। इस प्रकार (साधु-श्रावक) दोनों मार्ग से रहित बना हुआ वह मूढ़ स्वयं के भ्रष्ट आत्मा को कैसे पहचान नहीं सकता? (वह सुविहितों का वंदन कैसे ग्रहण करता है?) ।।२२९।।

श्रावक धर्म-विधि

(यहाँ तक साधु धर्म विधि कही गयी अब श्रावक धर्म विधि कहते हैं।)

वंदइ उभओ कालं पि, चेइयाइं थयत्थुई परमो ।
जिणवरपडिमाघरधूव-पुप्फगंधच्चअणुज्जुत्तो ।।२३०।।

सुश्रावक उभयकाल (च शब्द से मध्याह्न में भी) जिन प्रतिमा को वंदन करता है। (भक्तामरादि) स्तोत्र पढ़ता है। (बृहद् देववंदन में) स्तुति

बोलता है और जिनवर प्रतिमाघर (जिन मंदिर) में धूप-पुष्प-वासक्षेपादि गंध से पूजन करने में 'परम' अत्यन्त उद्यत (उद्यमवंत) रहता है ।।२३०।।

सुविणिच्छियएगमई, धम्मम्मि अनन्नदेवओ अ पुणो ।
न य कुसमएसु रज्जइ, पुव्वावरवाहयत्थेसु ।।२३१।।

(अहिंसादि) धर्म में अत्यन्त निश्चित एक=अनन्य मति युक्त और (दूसरे कोई मिथ्या देव पर नहीं) भगवंत पर ही अनन्य श्रद्धावान् होता है। पुनः (प्रशमादि गुण युक्त होता है) वह मिथ्या शास्त्र पर रागवान् नहीं होता। क्योंकि वे शास्त्र पूर्वापर बाधित (अर्थात् अघटमान खंडित) पदार्थों की प्ररूपणा करते हैं ।।२३१।।

दट्ठूणं कुलिंगीणं, तसथावरभूयमद्दणं विविहं ।
धम्माओ न चालिज्जइ, देवेहिं सइंदएहिं पि ।।२३२।।

(बौद्ध सांख्यादि मिथ्याधर्म वाले) कुलिंगियों द्वारा त्रस स्थावर जीवों की (पचन पाचनादि में) होने वाली विविध विराधना देखकर इंद्रों सहित देवों द्वारा भी (सर्वज्ञोक्त समस्त जीवराशि की सूक्ष्मता से रक्षा का उपदेश देनेवाले) जैन धर्म से चलायमान नहीं होता। (तो मनुष्यों से वह चलायमान कैसे होगा?) ।।२३२।।

वंदइ पडिपुच्छइ, पज्जुवासेइ साहुणो सययमेव ।
पढइ सुणइ गुणेइ अ, जणस्स धम्मं परिकहेइ ।।२३३।।

साधुओं को सतत (एक भी दिन के अंतर बिना निरंतर मन, वचन, काया से) वंदन करे, संदेह के निवारण के लिए, प्रश्न पूछे, पास में रहकर उपासना करे, सूत्राध्ययन करे, अर्थ श्रवण करे, सूत्रार्थ का परावर्तन करे। (च शब्द से उस पर चिंतन करे) लोगों को धर्मोपदेश दे (स्वयं बोध पाकर दूसरों को भी बोधित करे)।।२३३।।

दढसीलव्वयनियमो, पोसहआवस्सएसु अक्खलियो ।
महुमज्जमंसपंचविह-बहुबीयफलेसु पडिक्कंतो ।।२३४।।

शील-सदाचार में दृढ़ चित्त प्रणिधान रखे, अणुव्रत, और दूसरे नियमों के पालने में भी निष्प्रकंप होता है (आहार-शरीर-सत्कारादि त्याग के) पौषध और आवश्यक (सामायिक-प्रतिक्रमणादि नित्य कृत्य) में अतिचार लगने न दे, मद्य-मदिरा-मांस पाँच प्रकार के (वड आदि के) फल और बहुबीज (वेंगणादि) फल से निवृत्त होता है। (इनका त्यागवाला होता है) ।।२३४।।

नाहम्मकम्मजीवी, पच्चक्खाणे अभिक्खणुज्जुत्तो ।
सव्वं परिमाणकडं, अवरज्जइ तं पि संकंतो ॥२३५॥

(अंगार कर्मादि) अधिक पापवाले कार्यों से आजीविका न चलावें, पच्चक्खाण लेने में सतत उत्साहवंत रहे (सतत पच्चक्खाण का प्रेमी हो, और धन धान्यादि) सभी में परिमाण रखें (फिर भी कभी कहीं) (अपराध (दोष) लग जाय तो (शीघ्र आलोचना-प्रायश्चित्त से) उससे संक्रांत होकर चले (दूर होकर निरतिचार शुभ योग में आकर चले) या संक्रांत का दूसरा अर्थ शंका करते हुए यानि भयभीत होते हुए अर्थात् बड़े पापस्थान तो दूर रहो परंतु कुटुंबादि के लिए जो धान्यादि से रसोइ आदि करनी पड़े उसमें हेतु-हिंसा के कारण होने वाले अल्प कर्मबंध से भी डरता रहे ।।२३५।।

निक्खमण-नाण-निव्वाण-जम्मभूमीओ वंदइ जिणाणं ।
न य वसइ साहुजणविरहियंमि देसे बहुगुणेऽवि ॥२३६॥

जिनेश्वर भगवंत के दीक्षा, केवल ज्ञान, निर्वाण और जन्म (कल्याणक) की भूमियों को वंदन करे और (सुराज्य, सुजल, धान्य समृद्ध इत्यादि) अनेक गुण युक्त भी **साधु महात्माओं से रहित देशों में निवास न करें।** (क्योंकि उसमें मानव जन्म के सार भूत धर्म कमाई को हानि पहोंचती है) ।।।२३६।।

परतित्थियाण पणमण-उब्भावण-थुणण-भत्तिरागं च ।
सक्कारं सम्माणं, दाणं विणयं च वज्जेइ ॥२३७॥

मिथ्यादृष्टि बौद्धादि साधु को शिर से प्रणाम, दूसरों के सामने उनके गुणों का वर्णन रूप उद्भावन और उनकी स्तवना और ऊन कुगुरुओं पर हार्दिक भक्तिराग, वस्त्रादि से सत्कार, और उनके चरण धोने आदि रूप विनय करने का त्याग करें ।।२३७।।

पढमं जईण दाऊण, अप्पणा पणमिऊण पारेइ ।
असई य सुविहियाणं, भुंजेइ कयदिसालोओ ॥२३८॥

(और श्रावक) प्रथम मुनियों को सुपात्रदान देकर फिर स्वयं नमस्कार करने पूर्वक भोजन करता है। (च शब्द से वस्त्रादि भी मुनि को वहोराकर फिर वापरें) कदाच सुविहित मुनि न मिले तो दिशा अवलोकन करे अर्थात् इस अवसर पर मुनि मिले तो मुझ पर उपकार हो जाय। इस प्रकार की भावना पूर्वक चारों ओर नजर फिरावें कि मुनि भगवंत दिखायी देते है?) ।।२३८।।

साहूण कप्पणिज्जं, जं नवि दिन्नं कहिं वि किंचि तहिं।
धीरा जहुत्तकारी, सुसावगा तं न भुंजंति ॥२३९॥

साधु को खपे वैसा जो कोई अनशनादि किसी ऐसे स्थान या समय पर थोड़ा भी न दिया हो वह सुश्रावक वापरते नहीं क्योंकि वे सत्त्वशाली और विहित अनुष्ठान में तत्पर होते हैं (**गुरु महाराज ने न वापरा हो वह मेरे से कैसे खाया जाय?** ऐसा सत्त्व चाहिए, श्रावक के लिए विहित अनुष्ठान यह कि तप योग्य इस उत्तम भव में चल न सके इसीलिए करना पड़ता भोजन भी मुनि के पात्र में वहोराकर ही वापरें।) ।।२३९।।

वसहीसयणासणभत्त-पाणभेसज्जवत्थपत्ताई ।
जइवि न पज्जत्तधणो, थोवावि हु थोवयं देइ ।।२४०।।

(श्रावक स्वयं) कदाच इतना धनवान न हो तो भी मकान, संथारादि शयन, पाटला आदि आसन, भोजन-पानी, औषध, वस्त्र-पात्रादि (आदि पद से कंबल आदि) थोड़े में से भी थोड़ा सुपात्र में दे। (पात्र में न दिया वह न वापरना यह नियम) ।।२४०।।

संवच्छरचाउम्मासिएसु, अट्ठाहियासु अ तिहीसु ।
सव्वायरेण लग्गइ जिणवरपूयातवगुणेसु ।।२४१।।

सांवत्सरिक, चातुर्मासिक पर्वों में, चैत्री आदि अट्ठाईयों में, पर्वतिथियों में, जिनेश्वर भगवंत की पूजा, उपवासादि तपस्या, तथा ज्ञानादि गुणों में हृदय के पूर्ण आदर बहुमान से लग जाय ।।२४१।।

साहूण चेइयाण य, पडिणीयं तह अवण्णवायं च ।
जिणपवयणस्स अहियं, सव्वत्थामेण वारेइ ।।२४२।।

मुनियों के, मंदिर, मूर्तियों के प्रत्यनीको को (क्षुद्र उपद्रव करनेवालों) और उनके निंदको को और जिन शासन का अहित करने वालों को सर्व शक्ति (यावत् प्राणार्पण) से रोकें। (अर्थात् उनका प्रतिकार करें।) (क्योंकि यह महान् पुण्य का कारण है) ।।२४२।।

विरया पाणिवहाओ, विरया निच्चं च अलियवयणाओ ।
विरया चोरिक्काओ, विरया परदारगमणाओ ।।२४३।।

(अब श्रावक के विशेषकर गुणों में) स्थूल जीव हिंसा से विरत, सदा स्थूल असत्य वचन से विरत, स्थूल अदत्तादान से विरत और परस्त्रीगमन से विरत ।।२४३।।

विरया परिग्गहाओ, अपरिमिआओ अणंततण्हाओ ।
बहुदोससंकुलाओ, नरयगईगमणपंथाओ ।।२४४।।

अनंत तृष्णा के कारणभूत अपरिमित परिग्रह से विरत, क्योंकि

परिग्रह अतीव दोष का कारण और नरक गति की ओर प्रयाण का पंथ है। [इन दो श्लोकों में विरत शब्द का बार-बार प्रयोग विरति की महत्ता समझाने के लिए किया गया है।]।।२४४।।

मुक्का दुज्जणमित्ती, गहिया गुरुवयणसाहुपडिवत्ती ।
मुक्का परपरियाओ, गहिओ जिणदेसिओ धम्मो ।।२४५।।

(उत्तम श्रावकों के द्वारा) दुर्जन की मैत्री (संग) छोड़ी हुई होती है। (अर्थात् वे दुर्जन की मैत्री करते ही नहीं) गुरु (तीर्थंकर गणधरादि) के वचनों का 'साहु पडिवत्ती'=सुंदर स्वीकार (प्रतिज्ञा-पालन) किया हुआ होता है। दूसरे का अवर्णवाद नहीं करता। और जिन भाषित (व्रत-भक्ति आदि) धर्म ग्रहण किया हुआ होता है ।।२४५।।

तवनियमसीलकलिया, सुसावगा जे हवंति इह सुगुणा ।
तेसिं न दुल्लहाइं, निव्वाणविमाणसुक्खाइं ।।२४६।।

इस प्रकार जैन शासन में तप-नियम-शियल से संपन्न जो उत्तम श्रावक गण सद्गुणी होते हैं। उनको मोक्ष एवं स्वर्ग के सुख दुर्लभ नहीं है। (सदुपाय में प्रवृत्त को कुछ भी असाध्य नहीं है) ।।२४६।।

सीइज्ज कयाइ गुरू, तं पि सुसीसा सुनिउणमहुरेहिं ।
मग्गे ठवंति पुणरवि, जह सेलग-पंथगो नायं ।।२४७।।

(कर्मोदय के वश) कदाच गुरु शिथिल (प्रमादी हो जाय) तो उनको भी उत्तम शिष्यजन अति निपुण (सूक्ष्म) बुद्धि पूर्वक मधुर वचन (कहकर और खुद प्रवृत्ति) से पुनः ज्ञानादि रूप सन्मार्ग में लगा देते हैं। जैसे इस विषय में शैलकाचार्य के पंथक शिष्य दृष्टांत भूत है। (क्या आगम ज्ञाता गुरु भी शिंथिल बनें? हा, जानकार को भी कर्म की विचित्रता महा अनर्थ सर्जक हो सकती है। दृष्टांत रूप में— ।।२४७।।

दस दस दिवसे दिवसे, धम्मे बोहेइ अहव हिअयरे ।
इय नंदिसेणसत्ती, तहवि य से संजमविवत्ती ।।२४८।।

प्रतिदिन दस-दस को या उससे भी अधिक प्रतिबोधितकर (चारित्र) धर्म मार्ग में जोड़ते है वैसी शक्ति नंदिषेण में थी। फिर भी उनके चारित्र का नाश हुआ ।।२४८।।

कलुसीकओ अ किट्टीकओ अ, खयरीकओ मलिणिओ अ।
कम्मेहिं एस जीवो, नाऊण वि मुज्झई जेण ।।२४९।।

(मूल स्वरूपे निर्मल) इस जीव को कर्मने कर्मबंध द्वारा (मिट्टि से

पानी के समान) कलुषित किया। (निधत्त से) कर्मों ने आत्म प्रदेशों के साथ एक मेक होकर (जीव को) कीट्टी भूत किया (सुवर्ण में रज के समान)। (निकाचित से) कर्म ने जीव को अपने साथ एक रस जैसा बना दिया (गुंदर में मिला हुआ गुंदर द्रव्य के साथ एक रस होता है वैसे) और (स्पृष्टता से) मलिन किया (धूलवाले शरीर सम दृष्टांत रूप में ११-१२-१३ गुणठाणे) कर्म से कलुषित होने का कारण जीव तत्त्व को जानते हुए भी मोहोदय से मोहित होता है ।।२४९।।

कम्मेहिं वज्जसारोवमेहिं, जउनंदणो वि पडिबुद्धो ।
सुबहुं पि विसूरंतो, न तरइ अप्पक्खमं काउं ।।२५०।।

(कर्म की विटंबणा कैसी? कि श्री नेमिनाथ प्रभु से) अच्छी प्रकार प्रतिबोधित यदुपुत्र कृष्ण भी शताधिक बार मन में खेदित होते हुए भी वज्रसमान कठोर कर्म के कारण आत्म कल्याण करने में (विरति लेने में) समर्थ न बनें ।।२५०।।

वाससहस्सं पि जई, काऊणं संजमं सुविउलं पि ।
अंते किलिट्ठभावो, न विसुज्झइ कंडरीउव्व ।।२५१।।

(क्लिष्ट कर्मों की विषमता ऐसी है कि) मुनि एक हजार वर्ष तक अति दीर्घ चारित्र का पालनकर भी अंत में (कर्मोदय से) संक्लिष्ट परिणामी बना हुआ, कंडरीक के समान शुद्ध परिणाम वाला नहीं बनता ।।२५१।।

अप्पेण वि कालेणं, केइ जहागहियसीलसामण्णा ।
साहंति निययकज्जं, पुंडरियमहारिसि व्व जहा ।।२५२।।

(जब क्लिष्ट कर्म न हो ऐसे महा सत्त्वशाली) कितनीक आत्माएँ जैसे 'शील'=महाव्रत स्वीकार किये उसी प्रकार (यथार्थ रूप में पालनकर) प्राप्त श्रमणत्व के कारण अल्प समय में ही पुंडरीक महर्षि के समान स्वयं के प्रयोजन को सिद्ध करते हैं ।।२५२।।

काऊण संकिलिट्ठं सामण्णं, दुल्लहं विसोहिपयं ।
सुज्झिज्जा एगयरो, करिज्ज जइ उज्जमं पच्छा ।।२५३।।

प्रथम साधुत्व को संक्लेशवाला (दूषित) बनाकर फिर आत्मा को विशुद्धि स्थान प्राप्त करवाना दुर्लभ है। फिर भी 'एकतरः' कोई (कर्म-विवर मिलने से) पीछे से उद्यम करे तो पुनः विशुद्धि को प्राप्त कर सकता है। [परंतु उद्यम के बिना नहीं। अतः आत्मार्थी को चारित्र में प्रथम से ही दूषण न लगने देना क्योंकि चारित्र वैसे भी दुष्कर है।] ।।२५३।।

उज्झिज्ज अंतरि च्चिय, खंडिय सबलादउ व्य हुज्ज खणं।
ओसन्नो सुहलेहड, न तरिज्ज व्य पच्छ उज्जमिउं ।।२५४।।

चारित्र (ग्रहणकर) बिच में छोड़ दे। या एकाद व्रत का खंडन करे, छोटे-छोटे अनेक अधिक अतिचारों से चारित्र को शबल (काबर चितरा) करे या 'आदि' पद से चारित्र को सर्वथा छोड़ दे। उससे अवसन्न (शिथिल साधु) विषय सुख में मग्न बना हुआ पीछे से चारित्र में उद्यम नहीं कर सकता ।।२५४।।

अवि नाम चक्कवट्टी, चइज्ज सव्वं पि चक्कवट्टिसुहं ।
न य ओसन्नविहारी, दुहिओ ओसन्नयं चयइ ।।२५५।।

कभी चक्रवर्ती चक्रीपने के (छ खंड आदि के) सभी सुखों को छोड़ देता है। परंतु शिथिल विहारी दुःखी हो जायगा तो भी शिथिलता को नहीं छोड़ता। (क्योंकि वह मोह परवश हो गया है) ।।२५५।।

नरयत्थो ससिराया, बहु भणइ देहलालणासुहिओ ।
पडिओ मि भए भाउअ! तो मे जाएह तं देहं ।।२५६।।
को तेण जीयरहिएण, संपयं जाइएण हुज्ज गुणो! ।
जइऽसि पुरा जायंतो, तो नरए नेव निवडंतो ।।२५७।।

नरक में रहा हुआ शशिप्रभ राजा (धर्म कर देव बने) भाई को अनेक प्रकार से कहता है कि हे भाई! पूर्व के शरीर के लालन पालन से आनंद मंगल मानता हुआ मैं (नरक से उद्भवित) भय में गिरा हूँ। अतः मेरे उस शरीर को तूं कष्ट दे।

(जिससे ये नरक के दुःख मिट जाय) (उसके उत्तर में सूरप्रभ राजा का जीव कहता है कि) जीव रहित उस शरीर को अब कष्ट देने से क्या लाभ? जो पूर्व में जीवंत शरीर को (त्याग-तप परिसह के) कष्ट दिये होते तो तूं नरक में ही न आता ।।२५६-२५७।।

जावाऽऽउ सावसेसं, जाव य थोवोऽवि अत्थि ववसाओ।
ताव करिज्जप्पहियं, मा ससिराया व सोइहिसि ।।२५८।।

(अतः हे शिष्य!) जब तक आयुष्य (अल्प भी) शेष है, जब तक अल्प भी (व्यवसाय) चित्त का उत्साह है, वहाँ तक आत्महितकर साधना कर ले, जिससे शशीप्रभ राजा के समान पीछे से शोक करना न पड़े। (धर्म न करने वाला पश्चात्ताप करता है इतना ही नहीं परंतु) ।।२५८।।

घित्तूण वि सामण्णं, संजमजोगेसु होइ जो सिढिलो ।
पडइ जई वयणिज्जे, सोअइ अ गओ कुदेवत्तं ॥२५९॥

साधु धर्म स्वीकारकर भी जो संयम (महाव्रत) के योगों (तप-स्वाध्याय-आवश्यकादि) में प्रमादी बनता है। वह साधु इस भव में निन्दा का पात्र बनता है और निच (किल्बिषिकादि) देवपना प्राप्त कर वहाँ (दीर्घकाल) शोक करता है (कि हाय! मंदभागी ऐसे मैंने कैसा प्रमाद किया।) ।।२५९।।

सुच्चा ते जिअलोए, जिणवयणं जे नरा न याणंति ।
सुच्चाण वि ते सुच्चा, जे नाउणं नवि करंति ॥२६०॥

इस जीवलोक में जगत में वे शोचनीय हैं कि जो (विवेक शून्यता से) श्री जिन वचन को नहीं जानतें। उन शोचनीयों से भी अधिक शोचनीय वे हैं जो कि जिन वचन को जानकर भी उस पर अमल नहीं करतें ।।२६०।।

दावेऊण धणनिहिं, तेसिं उप्पाडिआणि अच्छीणि ।
नाऊण वि जिणवयणं, जे इह विहलंति धम्मधणं ॥२६१॥

जो श्री जिन वचन को जानकर भी यहाँ (उसका आचरण न कर) धर्म-धन को निष्फल करते है। उनको (भाग्य ने) धन का रत्नादि से भरा हुआ निधि बताकर (उस बिचारे के) नेत्र खींच लिये हैं (अंध बनाया है) ।।२६१।।

ठाणं उच्चुच्चयरं, मज्जं हीणं च हीणतरगं या ।
जेण जहि गंतव्वं, चिट्ठा वि से तारिसी होइ ॥२६२॥

(यह दोष उनकी करणी का है और) स्थान तो जगत में स्वर्गरूप उच्च, मोक्ष रूप अति उच्च, मनुष्य भव रूप मध्यम, तिर्यंच गतिरूप नीच या नरकगतिरूप अतिनीच है परंतु जिसको जिस स्थान पर जिस समय में भविष्य में जाना होता है उसकी करणी भी (वैसी) उसके अनुरूप होती है। (वह करणी कैसी? तो कहा कि—) ।।२६२।।

जस्स गुरुम्मि परिभवो, साहूसु अणायरो खमा तुच्छा ।
धम्मे य अणहिलासो, अहिलासो दुग्गईए उ ॥२६३॥

जो (जड़मति जीव) धर्मगुरु का पराभव-अपमान करता है, साधुओं का जो आदर नहीं करता, जिसमें क्षमा नहीं है या तुच्छ (स्वल्प) हैं, और जिसे श्रुत-चारित्र धर्म की अभिलाषा नहीं है। जिसकी अभिलाषा (परमार्थ से) दुर्गति की ही है। (तात्पर्य वैसी चेष्टा से वह दुर्गति का इच्छुक है इससे विपरीत) ।।२६३।।

सारीर–माणसाणं, दुक्खसहस्साण वसणपरिभीया ।
नाणंकुसेण मुणिणो, रागगइंदं निरुंभंति ॥२६४॥

शारीरिक और मानसिक हजारों दुःखों की पीड़ा से भयभीत मुनि ज्ञान रूपी अंकुश से राग रूपी उच्छृंखल गजेन्द्र को (उस पर आक्रमणकर) निगृहित करता है। [तात्पर्य राग यह भव हेतु है, भव दुःखात्मक है अतः भव भीरुं आत्मा उसके हेतुभूत राग को ही प्रथम से तोड़ते हैं।] ॥२६४॥

सुग्गइमग्गपईवं, नाणं दिंतस्स हुज्ज किमदेयं? ।
जह तं पुलिंदएणं, दिन्नं सिवगस्स नियगच्छिं ॥२६५॥

(राग निग्रह सम्यग्ज्ञान से होता है) अतः श्रेष्ठ गति, मोक्ष मार्ग, दीपक समान् प्रकाशक सम्यग्ज्ञान देने वाले गुरु को बदले में क्या देने लायक नहीं है? अर्थात् प्राण भी दिये जा सके! जैसे उस (शिव भक्त) एक भिल ने (शिव मूर्ति का एक नेत्र निकला हुआ देखकर) स्वयं के नेत्र को निकालकर उस मूर्ति को लगा दिया। [इसी प्रकार ज्ञान दाता प्रति मात्र बाह्य भक्ति नहीं परंतु **अंतर का बहुमान होना चाहिए।]** ॥२६५॥

सिंहासणे निसण्णं, सोवागं सेणिओ नरवरिंदो ।
विज्जं मग्गइ पयओ, इअ साहुजणस्स सुअविणओ ॥२६६॥

चंडाल को सिंहासन पर बिठाकर श्रेणिक राजा ने विनय पूर्वक प्रार्थना की। इस प्रकार साधुजन को श्रुतज्ञान का (ज्ञान दाता का) विनय करना चाहिए। [ऐसा विधान होने पर भी गुरु का अपलाप अवर्णवाद करनेवाला दुर्बुद्धि क्या पाता है? उसे कहते हैं] ॥२६६॥

विज्जाए कासवसंतिआए, दगसूअरो सिरिं पत्तो ।
पडिओ मुसं वयंतो, सुअनिण्हवणा इअ अपत्था ॥२६७॥

कोई 'काश्यप' हजाम नाई के पास प्राप्त विद्या द्वारा कोई उदक शूकर ने=जल भूंड ने (नित्य स्नानकारी त्रिदंडी ने आकाश में त्रिदंड अद्धर रखकर) पूजा-सत्कार प्राप्त किया। (किसी ने विद्या कहाँ से प्राप्त की ऐसा पूछने पर नाई के बदले हिमंतवासी योगी का नाम कहने से) असत्य उत्तर से (त्रिदंड आकाश से नीचे) गिरा। **श्रुत का अपलाप यह विद्या का कुपथ्य है** (क्योंकि गुरुं का अपलाप यह श्रुतज्ञान का अपलाप है) ॥२६७॥

सयलम्मि वि जिअलोए, तेण इहं घोसियो अमाघाओ ।
इक्कं पि जो दुहत्तं, सत्तं बोहेइ जिणवयणे ॥२६८॥

(गुरु इतने पूज्य कैसे?) इह-इस जगत में ऊन बोधदाता गुरु ने सकल चौद राजलोक में अ-मारि की घोषणा की कि जो गुरु एक भी दुःख पीड़ित जीव को भी जिन वचन के विषय में प्रतिबोधित करता है (क्योंकि बोधित जीव सर्वविरति प्रासकर जीवन भर के लिए और मुक्त होने पर सर्व काल के लिए अभय दाता बनता है) ।।२६८।।

सम्मत्तदायगाणं दुप्पडिआरं, भवेसु बहुएसु ।
सव्वगुणमेलियाहि वि, उवयारसहस्सकोडीहिं ।।२६९।।

अनेक भवों तक 'सव्वगुण मेलिया' द्विगुण त्रिगुण यावत् अनंत गुण उपकार क्रोड़ों हजारों बार करने पर भी समकित दाता (गुरु के उपकार) का प्रत्युपकार कर नहीं सकते ।।२६९।।

सम्मत्तंमि उ लद्धे, ठइआइं नरयतिरिअदाराइं ।
दिव्वाणि माणुसाणि अ, मोक्खसुहाइं सहीणाइं ।।२७०।।

(कारण कि) समकित प्रास होने के पश्चात् नरक, तिर्यंच के द्वार बंध हो जाते हैं और देव, मानव तथा अंत में मोक्ष सुख स्वाधीन हो जाता है। (सम्यक्त्व से मोक्ष सुख स्वाधीन कैसे? तो कहा-)।।२७०।।

कुसमयसईण महणं, सम्मत्तं जस्स सुट्ठियं हियए ।
तस्स जगुज्जोयकरं, नाणं चरणं च भवमहणं ।।२७१।।

मिथ्या शास्त्रों के श्रवण को (श्रवण जनित मिथ्यात्व को) तोड़ने वाला समकित जिसके हृदय में सुस्थिर हो गया है। उसको जग उद्योतकर ज्ञान (केवल ज्ञान) और संसारनाशक (सर्व संवररूप) चारित्र (प्रकट होता है)। [ऐसा कहकर यह सूचित किया कि समकित हो तो ज्ञान चारित्र उस भव में या भवांतर में अवश्य संसार नाशक बनता है। तीनों आवश्यक हैं यह आगे की गाथा में कहते हैं] ।।२७१।।

सुपरिच्छियसम्मत्तो, नाणेणालोइयत्थसब्भावो ।
निव्वणचरणाउत्तो, इच्छियमत्थं पसाहेइ ।।२७२।।

सुपरीक्षित (अति दृढ़) समकिति, ज्ञान से ''अर्थ-सद्भाव'' अर्थात् जीवादितत्त्व के बोध युक्त और 'निर्व्रण'=निरतिचार चारित्र युक्त वह इच्छित अर्थ (मोक्ष) को साधता (पाता) है ।।२७२।।

जह मूलताणए, पंडुरंमि दुव्वन्नरागवण्णेहिं ।
बीभच्छा पडसोहा, इय सम्मत्तं पमाएहिं ।।२७३।।

जैसे किसी वस्त्र के तंतु मूल में सफेद होते हुए भी बाद में उस पर

खराब रंग का वर्ण लगे तो उस वस्तु की शोभा विकृत होती है, वैसे समकित (प्रारंभ में निर्मल होने पर भी) कषायादि प्रमाद लगने पर मलिन होता है (वह प्रमादी अत्यन्त अविचारी कार्यकारी है क्योंकि समकित अवश्य वैमानिक आयु बंधक होने से अल्प प्रमाद से अधिक गुमा देता है वह इस प्रकार—)।।२७३।।

नरएसु सुरवरेसु अ, जो बंधइ सागरोवमं इक्कं ।
पलिओवमाण बंधइ, कोडिसहस्साणि दिवसेणं ।।२७४।।

(जो सो वर्ष के आयुष्य में) प्रमाद से नारकी का एक सागरोपम जितना, अप्रमाद से उतना देवगति का बंध करता है वह एक दिन के अप्रमाद से हजारो-क्रोड पल्योपम देवलोक का और एक दिन के प्रमाद से उतना नरक का बंध करे। (सो वर्ष के दिन से १० कोटाकोटि पल्योपम को भाग देने पर हजारो-क्रोड आता है। अतः प्रमाद से व्यक्ति कितना गवांता है इस पर सोचें) ।।२७४।।

पलिओवमसंखिज्जं, भागं जो बंधई सुरगणेसु ।
दिवसे दिवसे बंधइ, स वासकोडीअसंखिज्जा ।।२७५।।

इस प्रकार सो वर्ष के अप्रमाद से पल्योपम के संख्यातवें भाग जितना देवगति का बंध करता हो वह प्रतिदिन असंख्यात क्रोड़ वर्ष जितना बंध करता है (सो वर्ष के दिन से पल्योपम के संख्यातवें भाग को भाग देने पर उपरोक्त वर्ष आते हैं।) ।।२७५।।

एस कमो नरएसु वि, बुहेण नाऊण नाम एयंपि ।
धम्मंमि कह पमाओ, निमेसमित्तंपि कायव्वो ।।२७६।।

यही क्रम नरक के बंध के लिए हैं। इस गणित को समझकर बुद्धिमान पुरुष दुर्गति निवारक धर्म में (निमेष) क्षण मात्र भी प्रमाद क्यों करे? ।।२७६।।

दिव्यालंकारविभूसणाइं, रयणुज्जलाणि य घराइं।
रूवं भोगसमुदओ, सुरलोगसमो कओ इहइं? ।।२७७।।

(सिंहासन छत्रादि) दिव्य शणगार, दिव्य आभरण रत्नों से प्रकाशित देव विमान और अति-अद्भुत सौंदर्य और भोग समृद्धि इस मृत्यु लोक में कहाँ से लाना? (जो यहाँ नहीं है तो ठिकरी के समान भोग सुख में मग्न होकर धर्म को क्यों गंवांना?) ।।२७७।।

देवाण देवलोए, जं सोक्खं तं नरो सुभणिओऽवि ।
न भणइ वाससएण वि, जस्सऽवि जीहासयं हुज्जा॥२७८॥

देवलोक में देवों को जो सुख होते हैं ऊन सुखों का वर्णन कुशल वक्ता जिसको शत जीभ हो और सो वर्ष तक कहे तो भी वर्णन कर न सके। (क्योंकि वे सुख अमाप होते हैं। इससे विपरीत) ॥२७८॥

नरएसु जाइं अइकक्खडाइँ दुक्खाइं परमतिक्खाइँ ।
को वण्णेही ताइं? जीवंतो वासकोडीऽवि ॥२७९॥

नरक में जो शारीरिक अति कठोर और मानसिक अति तीक्ष्ण दुःख भोगने पड़ते हैं। उसका वर्णन एक क्रोड़ वर्ष का आयुष्य वाला जीवन पर्यंत वर्णन करे तो भी कर न सके? (क्योंकि वे दुःख अपरिमित है) ॥२७९॥

कक्खडदाहं सामलि-असिवणवेयरणिपहरणसएहिं ।
जा जायणाउ पावंति, नारया तं अहम्मफलं ॥२८०॥

नरक में नारक तीव्र दाह, शाल्मली वन, असिपत्रवन, वैतरणी नदी और सेंकडों शस्त्रों से जो पीड़ा पाते हैं, वे अधर्म पाप कार्य का फल है. ॥२८०॥

तिरिया कसंकुसारा-निवायवहबंधमारणसयाइं ।
नवि इहयं पावेंता, परत्थ जइ नियमिया हुंता ॥२८१॥

तिर्यंच चाबुक, अंकुश और आरे की सेंकडों बार मार, बंध (लाठी की मार), प्रहार, रस्सी से बंधन और प्राणघातक मार खाता है, जो पूर्व के भव में नियम बद्ध जीवन जिया होता तो यह भव न मिलता ॥२८१॥

आजीवसंकिलेसो, सुक्खं तुच्छं उवद्दवा बहुया ।
नीयजणसिट्ठणा वि य, अणिट्ठवासो अ माणुस्से ॥२८२॥

मनुष्य भव में जीवन भर संक्लेश (चित्त-असमाधि) विषय-सुख वह भी नीरस, चोरादि के उपद्रव अधिक, जैसे-तैसे निम्न कक्षा के मानवों का आक्रोश और अप्रिय स्थान पर निवास आदि कष्ट है ॥२८२॥

चारगनिरोहवहबंध-रोगधणहरणमरणवसणाइं ।
मणसंतावो अजसो, निग्गोवणया य माणुस्से ॥२८३॥

और कैदखाने में रहना पड़े, शस्त्रादि के प्रहार सहने, रस्सी आदि के बंधन, अनेक प्रकार के रोग, धन माल लूंटा जाना, मारणांतिक संकट, चित्त में संताप, अपयश, विटंबणा इस प्रकार मनुष्य भव में अनेक प्रकार के दुःख

होते हैं ।।२८३।।

चिंतासंतावेहि य, दारिद्दरुआहिं दुप्पउत्ताहिं ।
लद्धूणऽवि माणुस्सं, मरंति केई सुनिव्विण्णा ।।२८४।।

परिवार की चिंता, चोरादि के उपद्रव से संताप, निर्धनता, रोगादि के उदय से दुर्ध्यान और दुर्ध्यान से उत्तम मानव भव पाकर भी आपघात कर मर जाते हैं ।।२८४।।

देवा वि देवलोए, दिव्वाभरणाणुरंजियसरीरा ।
जं परिवडंति तत्तो, तं दुक्खं दारुणं तेसिं ।।२८५।।

देव भव में देवताई आभरणों से सुशोभित शरीर युक्त देवों को च्यवन के समय को जानकर गर्भ में अशुद्धि में गिरने का अत्यंत दुःख होता है ।।२८५।।

तं सुरविमाणविभवं, चिंतिय चवणं च देवलोगाओ ।
अइबलियं चिय जं नवि, फुट्टइ सयसक्करं हिययं ।।२८६।।

उन देवविमान और देवलोक से पतन के खयाल से भी हृदय शत खंड नहीं होता तब वह हृदय कितना निष्ठुर-कठोर है ।।२८६।।

ईसाविसायमयकोह-मायालोभेहिं, एवमाईहिं ।
देवाऽवि समभिभूया, तेसिं कत्तो सुहं नाम? ।।२८७।।

देवों में भी ईर्ष्या, विषाद, मद, क्रोध, माया और लोभ आदि (अर्थात् हर्ष-शोक दीनता चित्त के विकारों) से पराभूत होने से उनको भी सुख कहाँ? ।।२८७।।

धम्मंपि नाम नाऊण, कीस पुरिसा सहंति पुरिसाणं? ।
सामित्ते साहीणे, को नाम करिज्ज दासत्तं? ।।२८८।।

(अतः ऐसे दुःखों से परिपूर्ण संसारोच्छेदक) धर्म को पहचानकर भी मानव दूसरे मानवों की राह क्यों देखते हैं? (कि वे स्व कल्याणकर हमारा कल्याण करेंगे?) स्वामीत्व स्वाधीन हो तो फिर दासत्व का स्वीकार क्यों?) ।।२८८।।

संसारचारए चारए व्व, आवीलियस्स बंधेहिं ।
उव्विग्गो जस्स मणो, सो किर आसन्नसिद्धिपहो ।।२८९।।

कारागृह समान संसार रूपी कारागृह में कर्मरूपी जंजीर की पीड़ा से त्रसित मन वाला सतत उससे छूटने का विचार करता है और मोक्षमार्ग पास

में है ऐसा किर=किल=आप्त पुरुष कहते हैं ।।२८९।।

आसन्नकालभवसिद्धियस्स, जीवस्स लक्खणं इणमो ।
विसयसुहेसु न रज्जइ, सव्वत्थामेसु उज्जमइ ।।२९०।।

अल्पावधि में मोक्ष पद पाने वाले का यह लक्षण है कि वह विषय सुखों में आसक्त नहीं होता और मोक्ष साधक स्थानों में उद्यम करता है। (विशिष्ट संघयण बिना धर्म कैसे करे! ऐसा बचाव नहीं करना क्योंकि—) ।।२९०।।

हुज्ज य न य देहबलं, धिइमइसत्तेण जइ न उज्जमसि।
अच्छिहसि चिरं कालं, बलं च कालं च सोअंतो ।।२९१।।

शारीरिक शक्ति हो या न हो परंतु 'धृति'=मनःप्रणिधान, 'मति'=बुद्धि और सत्त्व-चित्त स्थिरता से जो तूं धर्म में उद्यम नहीं करेगा, तूं दीर्घकाल तक शरीर बल और दुःषम काल का शोक ही करता रहेगा। (ध्यान रखना-शोक से रक्षण नहीं होगा परंतु दीनता की वृद्धि होगी। अतः जो शक्ति प्राप्त है उससे शक्य धर्म का उद्यमकर उसे सफल बनाना) ।।२९१।।

लद्धेल्लयं च बोहिं, अकरिंतोऽणागयं च पत्थिंतो ।
अन्नं दाइं बोहिं, लब्भिहिसि कयरेण मुल्लेण? ।।२९२।।

('भवांतर में जैन धर्म और साधन प्राप्तकर धर्म करूंगा' यह विचार अयोग्य है क्योंकि) वर्तमान में प्राप्त बोधि जिन धर्म की प्राप्ति को सदनुष्ठान द्वारा सफल नहीं करता और भविष्य के लिए बोधि की याचना करता है तो हे मूर्ख! उस बोधि को तूं कौन से मूल्य से प्राप्त करेगा? (बोधिलाभ को सदनुष्ठान से सिंचन करने से शुभ संस्कार उत्पन्न होते हैं और वे संस्कार भवांतर में बोधिलाभ के मूल्य रूप में होते हैं। वैसे संस्कार के बिना बोधि कैसे प्राप्त करेगा?) ।।२९२।।

संघयणकालबलदूसमारुयालंबणाइं घित्तूणं ।
सव्वं चिय नियमधुरं, निरुज्जमाओ पमुच्चंति ।।२९३।।

प्रमादी जीव कहते हैं क्या करे? संघयण नहीं है, पांचवाँ आरा है। धैर्य न होने से मानसिक बल नहीं है। भगवंत ने ही कहा है विषम गिरते काल में धैर्य विषम है (या दुःषम आरा कठिन है हम क्या करें? हम राग से भरे हुए है आदि झूठे) आलंबन लेकर निरुद्यमी शक्य होते हुए भी संयम भार को सर्वथा छोड़ देते हैं ।।२९३।।

कालस्स य परिहाणी, संजमजोगाइं नत्थि खित्ताइं ।
जयणाइ वट्टियव्वं, न हु जयणा भंजए अंगं ।।२९४।।

(तब बुद्धिमान को क्या करना चाहिए? तो कहा कि—) समय खराब आ रहा है (इससे द्रव्य-क्षेत्र, काल भाव भी हीन हो रहे हैं) संयम पालन हेतु क्षेत्र भी नहीं है अतः प्रत्येक समय में जयणा पूर्वक वर्तन करना चाहिए (जयणा-आगमोक्त गुण ग्रहण-दोषत्याग) जयणा, संयम देह का नाश होने नहीं देती ।।२९४।।

समिईकसायगारव-इंदियमयबंभचेरगुत्तीसु ।
सज्झायविणयतवसत्तिओ अ जयणा सुविहियाणं ।।२९५।।

सुविहित मुनियों की जयणा-यतना (कर्तव्य करण-अकर्तव्य त्याग) निम्न स्थानों-कार्यों में होती हैं। १. समिति, २. कषाय, ३. गारव, ४. इंद्रिय, ५. मद, ६. ब्रह्मचर्य गुप्ति, ७. स्वाध्याय, ८. विनय, ९. तप और १०. शक्ति में (प्रयत्न) करनी होती है। (यह द्वार गाथा है अतः क्रमशः द्वारों का वर्णन करते हैं) ।।२९५।।

जुगमित्तंतरदिट्ठी, पयं पयं चक्खुणा विसोहिंतो ।
अव्वक्खित्ताउत्तो, इरियासमिओ मुणी होइ ।।२९६।।

('समिति'द्वार-ईया समिति) ईर्या समिति में सावधान मुनि युग (धूसर) प्रमाण आगे दृष्टि रखकर नेत्रों से पग-पग पर (यहाँ कोई जीव जंतु तो नहीं है वैसे) भूमि का शोधन करते हुए (बाजु में और पीछे का भी उपयोग रखते हुए) अव्याक्षिप्त-शब्दादि विषय में राग-द्वेष किये बिना उपयोग पूर्वक (मुनि) चलता है ।।२९६।।

कज्जे भासइ भासं, अणवज्जमकारणे न भासइ य ।
विगहविसुत्तियपरिवज्जिओ, अ जइ भासणासमिओ ।।२९७।।

(भाषा समिति-) ज्ञानादि-प्रयोजन में ही वचनोच्चार करें, वह भी निरवद्य (निष्पाप)। ज्ञानादि प्रयोजन बिना बोले ही नहीं। विकथा और विश्रोतसिका-आंतरिक खराब बोल-बोल करने का त्यागी 'च' से १६ बोल का विधिज्ञ-ज्ञाता ऐसा मुनि भाषा समिति का पालक होता है ।।२९७।।

बायालमेसणाओ, भोयणदोसे य पंच सोहेइ ।
सो एसणाइ समिओ, आजीवी अन्नहा होइ ।।२९८।।

४२ एषणा के (आधाकर्मि आदि दोषों से रहित) और भोजन मंडली के पाँच दोषों का त्यागी वह साधु एषणा समिति युक्त है। अन्यथा (दोषों के

प्रति बेदरकारी) आजीवी-साधु वेष से पेट भरू (वेषविडंबक) जानना ।।२९८।।

पुव्विं चक्खुपरिक्खिय-पमज्जिउं जो ठवेइ गिण्हइ वा ।
आयाणभंडमत्तनिक्खेवणाइ समिओ मुणी होइ ।।२९९।।

कोई वस्त्र पात्रादि पदार्थ लेते, रखते जो साधु पहले रखने के स्थान को देखता है पूजता है वैसे ही प्रर्माजन कर ग्रहण करता है तो वह आदानभंडमात्रनिक्षेप समिति वाला जानना ।।२९९।।

उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणए य पाणविही ।
सुविवेइए पएसे, निसिरंतो होइ तस्समिओ ।।३००।।

स्थंडिल, प्रश्रवण, श्लेष्म, शरीर का मेल, नासिका का मेल च शब्द से परठने योग्य पदार्थ को आहारादि पर चढ़े हुए जीव जंतु को अच्छी प्रकार देखी हुई जीव रहित भूमि पर चक्षु से देखकर जयणा पूर्वक परठे। वह परिष्ठापनिका समिति वाला साधु जानना ।।३००।। (समिति द्वार पूर्ण)

कोहो माणो माया, लोहो हासो रई य अरई य ।
सोगो भयं दुगंछा, पच्चक्खकली इमे सव्वे ।।३०१।।

(कषाय द्वार के पेटा द्वार) क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति-अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (दुर्गंछा) ये सब कलह के कारण होने से प्रत्यक्ष 'कलि' जानना (उपलक्षण से ये सभी अनर्थ के हेतु है) ।।३०१।।

कोहो कलहो खारो, अवरुप्परमच्छरो अणुसओ य ।
चण्डत्तणमणुवसमो, तामसभावो य संतावो ।।३०२।।

(क्रोधद्वार-) क्रोध यह कलह, ईर्ष्या, असूया, पश्चात्ताप, उग्ररोष, अशांति, तामस भाव (रोषण-शीलता-कनिष्ठवृत्ति) और संताप स्वरूप है अर्थात् ये सब क्रोध ही है। और ।।३०२।।

निच्छोडण निब्भंछण, निराणुवत्तित्तणं असंवासो ।
कयनासो य असम्मं, बंधइ घणचिक्कणं कम्मं ।।३०३।।

'निच्छोडण'-किसी को निकाल देना, 'निब्भंछण'=निर्भर्त्सना, तिरस्कार, वडिलों का अनुसरण न होना, गुरु के साथ रहना नहीं, कृतनाश-गुर्वादि के उपकार को भूल जाना, और असम्मं समभाव छोड़ देना (ये भी क्रोध के कार्य होने से क्रोध के ही रूपांतर है उस-उस प्रकार क्रोध करने से घन-गाढ़ चिकने कर्म बांधता है ।।३०३।।

माणो मयहंकारो, परपरिवाओ य अत्तउक्करिसो ।
परपरिभवो वि अ तहा, परस्स निंदा असूया य।।३०४।।

(अब मान-) मान यह जात्यादि मद, अहंकार, दूसरों का अवर्णवाद, स्व प्रशंसा, दूसरों का पराभव और परनिंदा और असहिष्णुता स्वरूप है ।।३०४।।

हीला निरुवयारित्तणं, निरवणामया अविणओ अ ।
परगुणपच्छायणया, जीवं पाडंति संसारे ।।३०५।।

इसके अलावा भी दूसरों को अयोग्य दर्शाना, किसी पर उपकार न करना, अक्कडता-अनम्रता, अविनय, दूसरों के गुणों को छूपाना, ये सभी मान के पर्याय है। ये जीव को संसार में भ्रमण करवाते हैं ।।३०५।।

माया कुडंग पच्छण्ण-पावया, कूडकवडवंचणया ।
सव्वत्थ असब्भावो, परनिक्खेवावहारो य ।।३०६।।

अब माया यह कुडंग-वक्रता, पाप के गुप्त आचरण, कूड़, कपट, ठगना, सभी पर असद्‌भाव (शंका-अविश्वास) करना। दूसरों की थापण छूपाना, न देना ये सभी माया के रूपांतर है ।।३०६।।

छलछोमसंवइयरो, गूढायारत्तणं मई कुडिला ।
वीसंभघायणं पि य, भवकोडिसएसु वि नडेंति ।।३०७।।

छल-दिखाना अलग, वर्तन अलग, छद्म-खोटा बहाना (अपने स्वार्थ के लिए पागल बनना), गूढ़ दूसरों को अपने हृदय की बात का अंदाज न आने देना ऐसा आचरण, वक्र बुद्धि, विश्वासघात ये सभी माया के रूपांतर है और ये मायावी को कोटाकोटी भवों तक संसार में भ्रमण करवाते हैं ।।३०७।।

लोभो अइसंचयसीलया य, किलिट्ठत्तणं अइममत्तं ।
कप्पण्णमपरिभोगो, नट्ठविणिट्ठे य आगल्लं ।।३०८।।

(लोभ-) लोभ-अति संचय शीलता (इकट्ठा करने का स्वभाव) संक्लिष्ट चित्त, अति ममता, कल्प्यान्नअपरिभोग-खाने योग्य सामग्री पास में होने पर भी उस पर तृष्णा के कारण वह नहीं खाता ऐसी कृपणता। पदार्थ गुम हो जाने पर या नष्ट होने पर (अत्यंत मूर्च्छा के कारण रोग हो जाने से) अतीव आकुल-व्याकुलता स्वरूपी बेचेनी का होना ।।३०८।।

मुच्छा अइबहुधणलोभया य, तब्भावभावणा य सया ।
बोलंति महाघोरे, जरमरणमहासमुद्दंमि ।।३०९।।

मूर्च्छा अर्थात् धन की अतीव लोभी दशा और सतत लोभ भावना चित्त लोभ में ही रमण करे, (लोभ के ये अति संग्रहशीलतादि स्वरूप) जरा-मरण रूप महाभयंकर अपार संसार समुद्र में डुबा देता है ।।३०९।।

एएसु जो न वट्टिज्जा, तेणं अप्पा जहट्ठिओ नाओ ।
मणुआण माणणिज्जो, देवाण वि देवयं हुज्जा ॥३१०॥

(अकषायी ही वास्तविक आत्मज्ञ) वह उपरोक्त क्रोधादि में मग्न नहीं होता। उससे उसने आत्मा को यथार्थ रूप में पहचाना है और वह मनुष्यों में माननीय और देवों में भी पूज्य होकर देव जैसा बन जाता है ॥३१०॥

जो भासुरं भुअंगं, पयंडदाढाविसं विघट्टेइ ।
तत्तो च्चिय तस्संतो, रोसभुअंगोवमाणमिणं ॥३११॥

(क्रोध यह प्रचंड सर्प-) जो रौद्र और दाढ़ में प्रचंड विष युक्त सर्प से छेड़खानी करे उसका उस सर्प से नाश होता है। यही उपमा क्रोध सर्प को है। (यानि क्रोधित आत्मा का नाश होता है-संयमादि भाव प्राण से, सद्‌गति से रहित होता है ॥३११॥

जो आगलेइ मत्तं, कयंतकालोवम वणगइंदं ।
सो तेणं चिय छुज्जइ, माणगइंदेण इत्थुवमा ॥३१२॥

(मान यह जंगली हाथी-) जो जमराज के जैसे मदोन्मत्त जंगली हाथी का सामना करने जाता है वह उससे ही चिरा जाता है। यह उपमा मान कषाय रूपी हाथी को लेकर है। (यानि मानी आत्मा भी नाश को पाता है) ॥३१२॥

विसवल्लिमहागहणं, जो पविसइ साणुवायफरिसविसं ।
सो अचिरेण विणस्सइ, माया विसवल्लिगहणसमा॥३१३॥

(माया-यह) विषवेलडी का वन है इस विषवेलडियों के महाभयंकर जंगल में (सम्मुख पवन) विषाक्त पवन का स्पर्श हो उस रीति से उस वन में जो प्रवेश करता है। (उस विषाक्त पवन के स्पर्श एवं गंधं से) उसका तत्काल नाश होता है। वैसे ही माया यह विषलताओं के जंगल जैसी है। (क्योंकि माया यह शुद्धात्मा को मारक एवं भव परंपरा की जननी और मृत्यु की सर्जक है) ॥३१३॥

घोरे भयागरे सागरम्मि, तिमिमगरगाहपउरम्मि ।
जो पविसइ सो पविसइ, लोभमहासागरे भीमे ॥३१४॥

(लोभ भयंकर महासागर-) जो लोभ रूपी महा समुद्र में प्रवेश करता है वह तिमि-बडे मच्छ, मगर और गाह-झूंड (आदि जलचर जीवों से) से भरपुर भयंकर महा समुद्र में प्रवेश करता है। (यानि लोभ के वशवर्ती होना अर्थात् अनंत दुःख रूपी जलचर से व्याप्त भयंकर संसार सागर में डूबने

जैसा है) ।।३१४।।

गुणदोस बहुविसेसं, पयं पयं जाणिऊण नीसेसं ।
दोसेसु जणो न, विरज्जइ त्ति कम्माण अहिगारो।।३१५।।

जिनागम के पद-पद पर (ज्ञानादि) गुणों का और क्रोधादि कषायों का दोषों का (मोक्ष फल और संसार जैसा अत्यधिक अंतर जानने पर भी लोक-पाप क्रिया से विरक्त नहीं होते यह जीवात्मा पर कर्मों का वर्चस्व सूचन करता है ।।३१५।।

अट्टट्टहासकेलिकिलत्तणं हासखिड्डजमगरूई ।
कंदप्पं उवहसणं, परस्स न करंति अणगारा ।।३१६।।

''चार कषाय के वर्णन के बाद हास्यादि द्वार दर्शाते हैं। हास्य द्वार-अट्टहास्य, रमंत द्वारा दूसरों को हास्यास्पद बनाना, भांड चेष्टा करनी, विषय राग बढ़े वैसे जमगरूई-यमकादि काव्य (गीत-उखाणे-अंताक्षरी) में आनंद मानना, कंदर्प-सामान्य हास्य, मजाक-कामवश मजाक करनी, उवहसण-दूसरों की हंसी मश्करी करनी इत्यादि हास्य साधु नहीं करते ।।३१६।।

साहूणं अप्परुई, ससरीरपलोअणा तवे अरई ।
सुत्थिअवन्नो अइपहरिसो य नत्थी सुसाहूणं ।।३१७।।

(रति-द्वार) साधु देह प्रिय नहीं होता। मेरा शरीर सशक्त है, सुंदर है, ऐसी दृष्टि से नहीं देखना, तप धर्म में अरति न करें, मैं रूपवान हूँ ऐसी आत्मश्लाघा न करें। और अतिलाभ में भी साधु-हर्ष न करें, (यहाँ दो बार साधु शब्द ऐसा सूचित करता है कि साधु ऐसी भिन्न भिन्न प्रकार की रति रहित होता है) ।।३१७।।

उव्वेयओ अ अरणामओ अ, अरमंतिया य अरई य ।
कलिमलओ अणेगग्गया य कत्तो? सुविहियाणं ।।३१८।।

(अरति द्वार-) उद्वेगक-(धर्मधैर्य में चंचलता) अरण आमय विषय प्रति गमन का चित्तरोग, अरमंतिया धर्म-ध्यान से चित्त की विमुखता, अरति-चित्त में गाढ़ उद्वेग, इष्ट विषयों की अप्राप्ति से विषय लंपटता के कारण 'कलिमलओ'=मानसिक उचाट 'अनेकाग्रता'=यह पहनुं, यह खाउं, यह देखूं आदि चित्त का डांवाडोलपना ऐसी अरति सुविहित अर्थात्-धर्म-शुक्ल ध्यान के तत्त्व से भावित मुनियों को कैसे हो? (नहीं होती) ।।३१८।।

सोगं संतावं अधिइं च, मन्नुं च वेमणस्सं च ।
कारुण्ण-रुन्नभावं, न साहुधम्मम्मि इच्छंति ।।३१९।।

(शोक द्वार-) शोक-स्वजनादि के मृत्यु पर चित्त का उद्वेग, 'संताप'=अधिक शोक, 'अधृति'=कुछ अनिष्ट पदार्थ के संयोग में उसके वियोग की विचारणा, 'मन्यु'=अति शोक से जात पर आक्रोश, 'वैमनस्य'=आपघातादि की विचारणा, 'कारुण्य'=अल्प रूदन, 'रुन्नभाव'=पोकार कर रोना, आदि साधु धर्म में हो ऐसा (तीर्थंकरादि) नहीं चाहते। (अर्थात् साधुजीवन में ऐसा शोक नहीं होना चाहिए) ।।३१९।।

भयसंखोहविसाओ, मग्गविभेओ विभीसियाओ य ।
परमग्गदंसणाणि य, दढधम्माणं कओ हुंति ।।३२०।।

(भय द्वार-) 'भय'=निःसत्त्वता से आकस्मिक डर, 'संक्षोभ'=चोरादि देखकर कम्प, 'विषाद'=दीनता, 'मार्ग-विभेद'=मार्ग में जाते हुए सिंहादि देखकर भय से इधर उधर जाना, भागना, 'बिभीषिका'=वेतालादि व्यंतर देखकर कंपायमान होना (ये दोनों जिन कल्पि मुनियों के लिए है) 'परमग्ग दंसणाणि'=भय से दूसरों को मार्गदर्शन देना यानि वर्तन कहना (भौतिक कार्य के लिए कहना)। ये भयस्थान धर्म में निश्चल चित्तवाले को नहीं होते ।।३२०।।

कुच्छा चिलीणमलसंकडेसु, उव्वेयओ अणिट्ठेसु ।
चक्खुनियत्तणमसुभेसु, नत्थि दव्वेसु दंताणं ।।३२१।।

(जुगुप्सा द्वार -) अशुचि आदि से या सड़े हुए शब की दुर्गंधी पदार्थों की निंदा, 'अनिष्ट'=मलिन शरीरादि प्रति उद्वेग, अशुभ-किटाणु युक्त कुत्ते आदि के शरीर को देखकर आँख घृणा से फेर लेना ये कार्य दान्त मुनि को नहीं होते ।।३२१।।

एयं पि नाम नाऊण, मुज्झियव्वं ति नूण जीवस्स ।
फेडेऊण न तीरइ, अइबलिओ कम्मसंघाओ ।।३२२।।

जो ऊपर बताये वे कषाय नोकषाय को शांत करने वाले जिन वचन को जानते हुए जो मानव मूढ़ बनता है। कषायादि दूर नहीं करता उसमें उसका अति बलवान् कर्म समूह कार्य करता है। उस तत्त्वज्ञ जीव को भी बलात्कार से अकार्य में प्रवर्तीत करें उसमें हम क्या कर सकते हैं? हम तो मात्र दृष्टा रह सकते हैं ।।३२२।।

जह जह बहुस्सुओ सम्मओ अ, सीसगणसंपरिवुडो अ ।
अविणिच्छिओ अ समए, तह तह सिद्धंतपडिणीओ ।।३२३।।

(गारव द्वार-) शास्त्र श्रवण मात्र से बहुश्रुत हो, और वैसे अज्ञ लोको

में मान्य हो, और (अधिक मूढ़) शिष्य परिवार युक्त हो, (क्योंकि मूढ़जीव ही उसे गुरु करते है) वैसे ही आगम के रहस्यार्थ से अज्ञ हो (इससे ही गारव में मग्न होता है) वैसे-वैसे वह आगम-प्रवचन का शत्रु (नाशक) होता है। (क्योंकि वह प्रवचन की हीलना करवाता है) ।।३२३।।

पवराइं वत्थपाया-सणोवगरणाइँ, एस विभवो मे ।
अवि य महाजणनेया, अहंति अह इड्ढिगारविओ ।।३२४।।

(ऋद्धि गारव द्वार-) साधु अच्छे-अच्छे वस्त्र, आसन, उपकरण शिष्यादि को प्राप्तकर यह मेरी समृद्धी बढ़ी ऐसा मानता है, अग्रणी जन समुदाय पर मेरा वर्चस्व है ऐसा मानने से ऋद्धि गारव युक्त होता है। [गारव में प्राप्त पदार्थ पर औत्सुक्य, अहोभाव और अप्राप्त प्रति आसक्ति, प्रार्थना, याचना होती है उससे चिकने कर्म से आत्मा भारी होता है अतः उसे गौरव गारव कहते हैं] ।।३२४।।

अरसं विरसं लूहं, जहोववन्नं च निच्छए भुत्तुं ।
निद्धाणि पेसलाणि य, मग्गइ रसगारवे गिद्धो ।।३२५।।

(रसगारव द्वार-) रसगारव से गृद्ध साधु 'अरस'=हिंगादि के संस्कार से रहित, 'विरस'=रस-कस हिन पदार्थ, 'लूखे'=मिठास रहित वाल चोलादि, 'यथोपपन्न'=माया, लब्धि आदि के प्रयोग रहित प्राप्त ऐसा आहार वह लेना नहीं चाहता, उसे तो 'स्निग्ध'=विगइ युक्त 'पेशल'=मनोहर स्वादिष्ट भोजन स्पेशल-स्वयं के लिए ही बनाये हुए आहार की इच्छा रहती है ।।३२५।।

सुस्सूसई सरीरं, सयणासणवाहणापसंगपरो ।
सायागारवगुरुओ, दुक्खस्स न देइ अप्पाणं ।।३२६।।

(शाता गारव-) शाता गारव युक्त साधु शरीर की स्वच्छता आदि शोभा करता है, संथारादि में निष्कारण आसक्त रहता है, उसके परिभोग में निमग्न रहता है। देह को कष्ट न हो इसका सतत ध्यान रखता है। शरीर को शाता मिले उसी का खयाल रखता है ।।३२६।।

तवकुलछायाभंसो, पंडिच्चप्फंसणा अणिट्ठपहो ।
वसणाणि रणमुहाणि य, इंदियवसगा अणुहवंति ।।३२७।।

(इंद्रिय द्वार-) इंद्रियों के वशीभूत साधु अनशनादि तप से भ्रष्ट हो जाता है, तप छोड़ देता है, कूल के गौरव को नष्ट करता है, लोक में विख्यात कीर्ति का नाश करता है, पंडिताई को कलंकित करता है, 'अनिष्ट पथ'=संसार के मार्ग में गमन करता है, अनेक प्रकार के संकट सहन करता

है और विनाश के निमित्तभूत कलह के द्वार खोल देता है ।।३२७।।

सद्देसु न रंजिज्जा, रूवं दट्ठुं पुणो न इक्खिज्जा ।
गंधे रसे अ फासे, अमुच्छिओ उज्जमिज्ज मुणी ।।३२८।।

अतः वार्जित्रादि के शब्दों में मुनि को राग नहीं करना, मनोहर रूप पर अचानक दृष्टि गिरने पर भी उसे राग दृष्टि से पुनः न देखना, (वास्तव में सूर्य के सामने से दृष्टि खिंच ली जाती है वैसे दृष्टि खींची जानी चाहिए। और सुंदर गंध, रस, स्पर्श में 'अमुच्छिओ'=गृद्ध हुए बिना, स्व साधुचर्या में उद्यम करना चाहिए ।।३२८।।

निहयाणि हयाणि य इंदिआणि, घाएहऽणं पयत्तेणं ।
अहियत्थे निहयाइं, हियकज्जे पूयणिज्जाइं ।।३२९।।

इंद्रियाँ निहत-अनिहत दोनों प्रकार से है 'निहत'=मरी हुई। [इष्ट अनिष्ट विषय में गयी हुई इंद्रिय, उसमें राग, द्वेष न करे तो स्व कार्य न होने से मरी हुई निहत कही गयी है) 'अनिहत'=सक्षम (इससे विपरीत रागं द्वेष करे तो अनिहत) अतः हे मुनिओं! 'घाएह पयत्तेणं'=छार-रज्जु जैसी बनायी हुई इंद्रियों को (स्व विषय पर रागद्वेष रोकनें के) प्रयत्न पूर्वक निहत करो। इस प्रकार 'अणं'=ऋण-कर्म (कर्म भी कर्ज समान आत्मा को भव केद में पकड़ रखता है अतः कर्म ऋण है) निहतानिहत है। (कर्म अधिक मारे गये अब थोड़े अनिहत है) उनका भी (कषाय मंदतादि द्वारा) प्रयत्न पूर्वक घात करें। अहितार्थ में प्रवर्त्त इंद्रियों को निहत-स्वकार्य-अकारी और हितकार्य जिनागम श्रवण जिनबिंब दर्शनादि में इंद्रियों को ('अनिहत'=स्वकार्यकरण-सज्ज बनाकर) पूजनीय करो। उससे आत्मा पूजनीय बनता है ।।३२९।।

जाइकुलरूवबलसुअ-तवलाभिस्सरियंअट्ठमयमत्तो ।
एयाइं चिय बंधइ, असुहाइँ बहुं च संसारे ।।३३०।।

(मद द्वार-) जाति, कुल, रूप, बल, श्रुत, तप, लाभ और ऐश्वर्य इन आठ के मद से उन्मत्त संसार में जात्यादि अनंत गुण हीन प्राप्त हो वैसे अशुभ कर्म बंध करता है ।।३३०।।

जाईए उत्तमाए, कुले पहाणम्मि रूवमिस्सरियं ।
बलविज्जा य तवेण य, लाभमएणं च जो खिंसे ।।३३१।।

स्वयं के उत्तम जाति, प्रधान कूल, सुंदर रूप, ऐश्वर्य, बल, विद्या, उत्कट तप और लाभ के मद से मंद बुद्धि दूसरों को निम्न दिखाता है। (मैं ऊँच हूँ यह नीच है) ।।३३१।।

संसारमणवयग्गं, नियट्ठाणाइं पावमाणो य ।
भमइ अणंतं कालं, तम्हा उ मए विवज्जिज्जा ॥३३२॥

वह मनुष्य इस अपार संसार में वे-वे निंद्य जात्यादि स्थान पाकर अवश्य अनंत काल भटकता है अतः जात्यादि मद का त्याग कर ॥३३२॥

सुट्ठुं वि जई जयंतो, जाइमयाईसु मज्जइ जो उ ।
सो मेअज्जरिसी जह, हरिएसबलु व्व परिहाइ ॥३३३॥

जो साधु सुंदर तपादि अनुष्ठान में रक्त हो तो भी जाति मदादि से उन्मत्त रहे तो मेतार्य मुनि, हरिकेशीबल समान नीच जाति कुल की हीनता को पाता है ॥३३३॥

इत्थिपसुसंकिलिट्ठं, वसहिं इत्थिकहं च वज्जंतो ।
इत्थिजणसंनिसिज्जं, निरूवणं अंगुवंगाणं ॥३३४॥

(ब्रह्मचर्य गुप्ति द्वार-) १. स्त्री (देवी, मानवी) और पशु स्त्री के संक्लेश युक्त स्थान, २. स्त्री कथा, (स्त्री अकेली हो तो धर्मकथा का भी वर्जन), ३. स्त्री के आसन का और ४. स्त्री के अंगोपांग देखने का त्याग करना। (साध्वीयों को पुरुष के साथ समझना) ॥३३४॥

पुव्वरयाणुस्सरणं, इत्थिजणविरहरुवविलवं च ।
अइबहुअं अइबहुसो, विवज्जयंतो अ आहारं ॥३३५॥

५. पूर्व के भोगों का स्मरण, ६. स्त्री के विरह गीत या कामवासना जागृत हो वैसे शब्द श्रवण, ७. अति आहार और ८. प्रणीत रस विगयी युक्त आहार का त्याग ॥३३५॥

वज्जंतो अ विभूसं, जइज्ज इह बंभचेरगुत्तीसु ।
साहू तिगुत्तिगुत्तो, निहुओ दंतो पसंतो अ ॥३३६॥

९. शरीर शोभारूप विभूषा का त्याग करता हुआ मुनि इस जिन प्रवचन में ब्रह्मचर्य की रक्षा की नव गुप्ति के पालन में रक्त रहता है क्योंकि वह 'त्रिगुप्ति गुप्त'=मन-वचन-काया के निरोध से सुरक्षित और 'निभृत'=शांतता के कारण प्रवृत्ति रहित, दान्त यानि जितेन्द्रिय और प्रशान्त यानि कषायों का निग्रह करने वाला है ॥३३६॥

गुज्झोरुवयणकक्खोरुअंतरे, तह थणंतरे दट्ठुं ।
साहरइ तओ दिट्ठिं, न बंधइ दिट्ठिए दिट्ठिं ॥३३७॥

स्त्री के गुह्यांग, साथल, मुख, बगल, छाती, स्तन के भाग अजानते नजर में आ जाय तो दृष्टि वापिस खींच ले। (क्योंकि यह दर्शन महा

अनर्थकारी है) और स्त्री की आँख से आँख कभी नहीं मिलानी ।।३३७।।

सज्झाएण पसत्थं झाणं, जाणइ य सव्वपरमत्थं ।
सज्झाए वट्टंतो, खणे खणे जाइ वेरग्गं ।।३३८।।

(स्वाध्याय द्वार-) (वाचना पृच्छनादि) स्वाध्याय करने वाला १. प्रशस्त ध्यान, २. समस्त तत्त्व का ज्ञाता, ३. स्वध्याय से प्रतिक्षण वैराग्य को पाता है। क्योंकि स्वाध्याय प्रतिक्षण राग का मारक है ।।३३८।।

उड्ढमहतिरियलोए, जोइसवेमाणिया य सिद्धि य ।
सव्वो लोगालोगो, सज्झायविउस्स पच्चक्खो ।।३३९।।

स्वाध्याय कारक को उर्ध्वलोक में वैमानिक देवलोक, सिद्धस्थान, अधोलोक में नरक (भवनपति) तिर्च्छे लोक में ज्योतिष (व्यंतर और असंख्यात द्वीप समुद्र, अरे!) सभी लोक-अलोक प्रत्यक्ष हो जाता है। (स्वाध्याय निमग्न आत्मा संपूर्ण जगत को साक्षात जानता देखता है) ।।३३९।।

जो निच्चकाल तवसंजमुज्जओ, णवि करइ सज्झायं ।
अलसं सुहसीलजणं, न वि तं ठावेइ साहुपए ।।३४०।।

(स्वाध्याय न करने से अनर्थ) जो साधु नित्य तप और संयम में उद्यमी (अप्रमादी) परंतु स्वाध्याय में प्रमादी अपने कर्तव्य अदा करने में आलसु सुख शीलियो (शाता लंपट) लोक को (शिष्यादि वर्ग को) साधु पद पर स्थापन नहीं कर सकता (साधुता प्राप्त नहीं करवा सकता) स्वाध्याय के बिना साधुता का ज्ञान नहीं होता। (स्वयं कुछ अप्रमादी परंतु ज्ञान रहितता से दूसरों का कल्याण नहीं कर सकता) ।।३४०।।

विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे ।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो? कओ तवो? ।।३४१।।

(विनय द्वार) द्वादशांगी रूपी जैन शासन में धर्म का मूल विनय है। विनय से संयम योग्य निरहंकार और कषाय निग्रह आता है अतः विनीत आत्मा ही संयमी बनता है ।।३४१।।

विणओ आवहइ सिरिं, लहइ विणीओ जसं च कित्तिं च।
न कयाइ दुव्विणीओ, सकज्जसिद्धिं समाणेइ।।३४२।।

विनय हीन दुर्विनीत आत्मा में मूल विनय न होने से, तप कहाँ से होगा? धर्म कहाँ से होगा? (नहीं ही होगा)।

विनय (अष्ट कर्म का विनयन-अपनयन कराने वाला होने से सर्व संपत्ति को प्राप्त कराता है। और विनीत आत्मा (मान सुभट के पराभव के

लिए पराक्रम करने के द्वारा) यश और पुण्य का भाजन बनने के द्वारा कीर्ति को पाता है। दुर्विनीत अपने कार्य की कभी सिद्धि नहीं कर सकता ।।३४२।।

जह जह खमइ सरीरं, धुवजोगा जह जह न हायंति ।
कम्मक्खओ अ विउलो, विवित्तया इंदियदमो अ।।३४३।।

(तप द्वार-) (कितनेक लोग ऐसा कहते हैं कि—दुःख सहन करे तो ही तप, परंतु ऐसा नहीं है ''महादुःख सहन करने वाले नारकी महातपस्वी हो जायेंगे! और शमनिमग्नमहायोगी तपस्वी नहीं माने जायेंगे! परंतु) जितना-जितना तप शरीर सहन करे और (जिस तप से) संयम की प्रतिलेखना, वैयावच्च, स्वाध्यायादि नित्य योगों में हानि न आवे (उतना-उतना तप करना) ऐसा तप करने से १. विपुल कर्म क्षय, २. विवित्तया-शरीर से आत्मा भिन्न होने की भावना, ३. इंद्रियों पर निग्रह प्राप्त होता है ।।३४३।।

जइ ता असक्कणिज्जं, न तरसि काऊण तो इमं कीस।
अप्पायत्तं न कुणसि, संजमजयणं जइजोगं? ।।३४४।।

(शक्ति द्वार-) (मुझ में शक्ति नहीं है ऐसा मानकर प्रमादी होने वाले को हितशिक्षा) जो तुम (भिक्षु प्रतिमादि अति दुष्कर आराधना दृढ़ संघयण के अभाव से) अशक्य होने से नहीं कर सकते तो भी हे साधु! ऊपर दर्शित साधु को शक्य विधेय-आदर, निषेध-त्याग स्वरूप समिति आदि पालन स्वाधीन संयम आचरणा क्यों नहीं करता? ।।३४४।।

जायम्मि देहसंदेहयम्मि, जयणाइ किंचि सेविज्जा ।
अह पुण सज्जो अ निरुज्जमो य तो संजमो कत्तो?।।३४५।।

(शास्त्र उत्सर्ग-अपवाद रूप होने से अपवाद से प्रमाद करनेवाले का क्या दोष? उसका उत्तर-) प्राणांत संकट आने पर भी जयणा से (पंचक परिहानिद्वारा अधिक दोष त्याग के साथ कुछ अनेषणीयादि अल्प दोष सेवन रूपी (विवेक से) अपवाद का आश्रय करे (परंतु इसके अलावा नहीं यह आगम अभिप्राय है) परंतु समर्थ के निरोगी (शक्ति होने पर भी) शैथिल्य का सेवन करे तो संयम कैसे रहे? [अर्थात् जिनाज्ञा से पराङ्मुख में संयम कैसे रहे? सारांश विहित अनुष्ठानों में उद्यम चाहिए क्योंकि कारण की उपस्थिति में भी दोष सेवन न करें यह दृढ़ धर्मिता है, शास्त्र मान्य है] ।।३४५।।

मा कुणउ जइ तिगिच्छं, अहियासेऊण जइ तरइ सम्मं ।
अहियासिंतस्स पुणो, जइ से जोगा न हायंति।।३४६।।

(यहाँ तक २९५ गाथा में कहे हुए समिति आदि द्वारों का वर्णन

किया। अब जो समर्थ साधक को शिथिलता से संयम का अभाव होता हो और ग्लान को नहीं तो क्या उपचार भी नहीं करवाना? उसके लिए कहते हैं।)

(रोग सहन यह परिसह जय है, संवर साधना है और रोग कर्मक्षय में सहायक है अतः) रोग की अतीव पीड़ा को भी जो सहन कर सके (दुर्ध्यान होने न दे) तो वह रोग प्रतिकार न करावे। परंतु जो रोगादि सहन करते समय (संघयण बल की कमी से) संयम योगों में (पडिलेहणादि कार्य) सीदाते हो, प्रमाद होता हो तो उसे औषध करवाना अनुचित नहीं है ।।३४६।।

निच्चं पवयणसोहा-कराण, चरणुज्जयाण साहूणं ।
संविग्गविहारीणं, सव्वपयत्तेण कायव्वं ।।३४७।।

(अन्य साधुओं का कर्तव्य यह है कि) सदा जैन शासन की प्रवचन शोभा करनेवाले 'चरणोद्यत' अप्रमादी और 'संविग्न'=मोक्ष की इच्छा से विचरने वाले साधुओं का सर्व प्रकार से वैयावच्चादि करना चाहिए ।।३४७।।

हीणस्स वि सुद्धपरूवगस्स, नाणाहियस्स कायव्वं ।
जणचित्तग्गहणत्थं, करिंति लिंगावसेसेऽवि ।।३४८।।

अप्रमत्त आत्मार्थी मुनि को लोक रंजन के लिए चारित्र में शिथिल परंतु विशेष ज्ञानी और आगम के शुद्ध प्ररूपक का भी उचित कार्य करना (कारण कि साधु निर्दय है, परस्पर ईर्ष्यालु है ऐसा लोकों में शासन का उड्डाह न हो) ।।३४८।।

दगपाणं पुप्फफलं, अणेसणिज्जं गिहत्थकिच्चाइं ।
अजया पडिसेवंति, जइवेसविडंबगा नवरं ।।३४९।।

(वे मात्र वेशधारी पासत्थादि कैसे होते हैं? तो कहा कि—) सचित्त जल, पुष्प, फल और आधाकर्मि आदि दोषित आहार लेने वाले, गृहस्थकार्य (गृहकरणादि) 'अजया'=यतना रहित (पाप में निर्दय) पाप सेवन करनेवाले होते हैं। ये मुनिवेशधारी मुनि गुण रहित वेश विडंबक है ।।३४९।।

ओसन्नया अबोही, पवयणउब्भावणा य बोहिफलं ।
ओसन्नो वि वरं पि हु, पवयणउब्भावणापरमो ।।३५०।।

(सर्व ओसन्न) शिथिलाचारी के रूप में इस भव में लोको में पराभव पाता है और आज्ञा का विराधक होने से परलोक में) अबोधि जैन धर्म की प्राप्ति से रहित होता है। कारण कि शासन प्रभावना ही बोधिरूप कार्य उत्पन्न करती है। (संविग्न विहारी के अनुष्ठान देखकर लोक शासन-प्रशंसा करते

हैं) स्वयं शिथिल होने पर भी (वादलब्धि व्याख्यानादि से) सुसाधु के गुण प्रकाशन आदि से मुख्यता से शासन प्रभावना करता है, वह देश-ओसन्नो भी श्रेष्ठ है ।।३५०।।

गुणहीणो गुणरयणायरेसु, जो कुणइ तुल्लमप्पाणं ।
सुतवस्सिणो य हीलइ, सम्मत्तं कोमलं (पेलवं) तस्स ।।३५१।।

जो चारित्रादि गुणहीन हम भी साधु है? ऐसा कहकर स्वयं को गुणसागर साधुओं के तुल्य मानने वाला एवं मनवाने वाला यह उत्तम तपस्वीयों को ये तो मायावी हैं लोक को ठगने वाले हैं ऐसा कहकर हीन दर्शाता है ऐसा मुनि वेशधारी मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि उसका दिखायी देनेवाला समकित निःसार है। (समकित गुणवानों के प्रति प्रमोद भाव से साध्य है) ।।३५१।।

ओसन्नस्स गिहिस्स य, जिणपवयणतिव्वभावियमइस्स ।
कीरइ जं अणवज्जं, दढसम्मत्तस्सऽवत्थासु ।।३५२।।

प्रवचन भक्ति युक्त सुसाधु पासत्थादि शिथिलाचारी या जिनागम में गाढ़ चित्तवाले समकितधारी सुश्रावक के निरवद्य (निष्पाप) उचित कार्यों की प्रशंसादि करे तो वह भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-आपत्ति समय में ही कारण हो तो ही करनी है, सदा नहीं ।।३५२।।

पासत्थोसन्नकुसील, - नीयसंसत्तजणमहाच्छंदं ।
नाऊण तं सुविहिया, सव्वपयत्तेण वज्जंति ।।३५३।।

'पासत्थो'=ज्ञानादि के पास रहे इतना ही, आराधना न करे, 'ओसन्नो'=आवश्यकादि में शिथिलाचारी 'कुशील'=खराब आचार युक्त, 'नीय'=नित्य एक स्थान पर रहने वाला, 'संसत्त'=पर-गुण-दोष में वैसा होने वाला (जल तेरा रंग कैसा, जिसमें मिले वैसा) 'अहा-छंदो'=आगम निरपेक्ष स्वमति से चलने वाला, (यह पूर्वोक्त से अधिक दोष युक्त होने से पृथक् बताया) इन छ को पहचानकर सुविहित साधु इनके संग रहने का सर्व प्रयत्न से त्याग करे ।।३५३।।

बायालमेसणाओ, न रक्खइ धाइसिज्जपिंडं च ।
आहारेइ अभिक्खं, विगईओ सन्निहिं खाइ ।।३५४।।

(पासत्थादिपना कैसी शिथिलताओं में आवे? उसका स्वरूप-) 'एसणा'=गोचरी गवेषणा के ४२ दोष त्याग रूप एषणा समिति का पालन न करे, बालकों को रमाने वाला, धावमाता का कार्य कर धात्री पिंड, शयातर

पिंड न छोड़ने वाला (सतत दुधादि विगइ का ग्राहक, 'संनिहि'=गुड़ादि का क्षेत्रातीत कालातीत का संग्रही और उपयोग करनेवाला ।।३५४।।

सूरप्पमाणभोजी, आहारेइ अभिक्खमाहारं ।

न य मंडलीए भुंजइ, न य भिक्खं हिंडइ अलसो ।।३५५।।

सूर्योदय से सूर्यास्त तक आहार पानी वापरने वाला, वारंवार आहार कर्ता, मांडली में न वापरने वाला, भिक्षा में प्रमादी ।।३५५।।

कीवो न कुणइ लोअं, लज्जइ पडिमाइ जल्लमवणेइ ।

सोवाहणो अ हिंडइ, बंधइ कडिपट्टयमकज्जे ।।३५६।।

सत्त्वहीन होकर लोच न करनेवाला, प्रतिमादि में लज्जालु (कायोत्सर्ग में शरम का अनुभव करने वाला, शरीर का मेल उतारने वाला, बूट-चंपल पहनने वाला, निष्कारण चोल पट्टक को कंदोरा से बांधकर रखने वाला और ।।३५६।।

गामं देसं च कुलं, ममायए पीठफलगपडिबद्धो ।

घरसरणेसु पसज्जइ, विहरइ य सकिंचणो रिक्को ।।३५७।।

गाम, नगर, देश, कूल ऊपर ममत्व भााव रखें (चोमासे सिवाय शेष काल में) पाट पाटला का उपयोगी, उसके सेवन में आसक्त, घरशरण-घर (उपाश्रयादि) के समार कार्य में अथवा स्मरण में निमग्न रहे और धन पास में रखकर भी अपने आपको निर्ग्रंथ (अपरिग्रही) हूँ ऐसा कहे ।।३५७।।

नहदंतकेसरोमे, जमेइ उच्छोलधोअणो अजओ ।

वहइ य पलियंकं, अइरेगपमाणमत्थुरइ ।।३५८।।

नाखुन, दांत, केश, रोम की (नाखून काटने के बाद घिसे, दांत घिसे, केश संवारे आदि) शोभा करे, विशेष जल से हाथ, पैर, मुख धोने के काम करें (गृहस्थ के समान) यतना रहित होकर रहे, पलंग का उपयोग करे, संथारा उत्तर पट्टा से अधिक उपकरण शय्या में उपयोग में ले ।।३५८।।

सोवइ य सव्वराइं, नीसट्ठमचेयणो न वा झरइ ।

न पमज्जंतो पविसइ, निसिहीयावस्सियं न करेइ ।।३५९।।

(जड़ काष्ट सम) निश्चेष्ट होकर सोता रहे, रात में स्वाध्याय न करे, (अंधेरे में) रजोहरण (दंडासन) से बिना प्रमार्जन चले, प्रवेशादि में निसीहि आवस्सहि न कहे ।।३५९।।

पाय पहे न पमज्जइ, जुगमायाए न सोहए इरियं ।
पुढवीदगअगणिमारुअ-वणस्सइतसेसु निरविक्खो ॥३६०॥

मार्ग में (विजातीय पृथ्वी पर प्रवेश के समय) पूर्व रज से संसक्त पैर का प्रमार्जन न करें, मार्ग में चलते समय धूंसर प्रमाण दृष्टि से ईयासमिति न पाले, पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं त्रस काय जीवों की निःशंकता से विराधना करें ।।३६०।।

सव्वं थोवं उवहिं न पेहए, न य करेइ सज्झायं ।
सद्दकरो, झंझकरो, लहुओ गणभेयतत्तिल्लो ॥३६१॥

(मुहपत्ति आदि) अल्प भी उपधि का पडिलेहण न करे, दिन में स्वाध्याय न करें, (रात को) जोर से बोले, कलह करे, (जोर शोर से बोलने का आदि हो) तुच्छ प्रकृतिवान् हो, गणभेद-गच्छ में भेद गिराने की प्रवृत्ति करें ।।३६१।।

खित्ताईयं भुंजइ, कालाईयं तहेव अविदिन्नं ।
गिण्हइ अणुइयसूरे, असणाई अहव उवगरणं ॥३६२॥

क्षेत्रातीत, दो कोश से अधिक जाकर वहोरे हुए आहार पानी वापरे, कालातीत तीन प्रहर उपरांत वहोरा हुआ वापरे, मालिक या गुरु के द्वारा अदत्त वापरे, सूर्योदय के पूर्व अशनादि अथवा उपकरण वहोरे। (ये कार्य जिनाज्ञा संमत नहीं है) ।।३६२।।

ठवणकुले न ठवेई, पासत्थेहिं च संगयं कुणइ ।
निच्चमवज्झाणरओ, न य पेहपमज्जणासीलो ॥३६३॥

(खास प्रयोजन में आहारादि के लिए गुरुने स्थापन किये हुए और रोज के त्यागे हुए श्रीमंत या भक्त के घर) स्थापनकर न रखें (और निष्कारण उनके वहाँ गोचरी जाय) पासत्थाओं से मैत्री करे, नित्य 'अपध्यान'=दुष्ट संक्लिष्ट चित्त युक्त रहे (प्रमाद से वसति-उपधि आदि में) प्रेक्षण प्रमार्जनशील न रहे ।।३६३।।

रीयइ य दवदवाए, मूढो परिभवइ तहय रायणिए ।
परपरियायं गिण्हइ, निट्ठुरभासी विगहसीलो ॥३६४॥

मार्ग में ''दवदवाए'' 'द्रुतं'=शीघ्रता से चले, वह मूढ़-मूर्ख 'रत्नाधिक'=विशिष्ट ज्ञानादिक युक्त का तिरस्कार करें, दूसरों की निंदा करें, कठोर वचन बोले, (स्त्री कथादि) विकथा में मग्न बनें ।।३६४।।

विज्जं मंतं जोगं, तेगिच्छं कुणइ भूइकम्मं च ।
अक्खर-निमित्तजीवी, आरंभपरिग्गहे रमइ ॥३६५॥

(देवी अधिष्ठित) विद्या, (देवाधिष्ठित) मंत्र (विशिष्ट द्रव्यों का मिश्रण रूप) योग के प्रयोग या दवा उपचार करें, भूति-राख मंत्रित राख, (वासक्षेप) का प्रयोग करें (ये गोचरी के लिए, दाक्षिण्यता से या सत्कार सम्मान प्राप्त करने हेतु करे) अक्षर-निमित्त, 'पाठशाला'=जोषीपना इससे आजीविका चलावें, 'आरंभ'=पृथ्वीकायादि जीवों का नाश करें, 'परिग्रह'=अधिक उपकरण ग्रहण में रमण करें ॥३६५॥

कज्जेण विणा उग्गह-मणुजाणावेइ, दिवसओ सुयइ ।
अज्जियलाभं भुंजइ, इत्थिनिसिज्जासु अभिरमइ ॥३६६॥

बिना प्रयोजन इन्द्र-राजा आदि से अवग्रह की याचना करे (अल्प स्थान की जरूरत हो फिर भी विशेष स्थान (जगह) की याचना करें) दिन में शयन करे, साध्वी का लाया आहार ले, और स्त्री के आसन पर स्त्री के उठ जाने पर शीघ्र बैठे ॥३६६॥

उच्चारे पासवणे, खेले सिंघाणे अणाउत्तो ।
संथारगउवहीणं, पडिक्कमइ वा सपाउरणो ॥३६७॥

स्थंडिल, मात्रा, थूंक, श्लेष्म आदि परठने में उपयोग न रखें (अजयणा करें) संथारे पर, उपधि पर रहकर या एक से अधिक वस्त्र पहनकर प्रतिक्रमण आदि क्रिया करें ॥३६७॥

न करेइ पहे जयणं, तलियाणं तह करेइ परिभोगं ।
चरइ अणुबद्धवासे, सपक्खपरपक्खओ माणे ॥३६८॥

मार्ग में चलते सचित्त जलादि के संघट्टे से बचने का प्रयत्न न करें, बूट, चंपल पहनकर चले, वर्षाकाल में विहारादि करें, और जहाँ स्व पक्षी जैन श्रमण और परपक्षी (बौद्धादि) साधु हो ऐसे क्षेत्र में सुखशीलता से इस प्रकार रहे कि जिससे अपमान-लघुता को प्राप्त करें ॥३६८॥

संजोअइ अइबहुअं, इंगाल सधूमगं अणट्ठाए ।
भुंजइ रूवबलट्ठा, न धरेइ अ पायपुंछणयं ॥३६९॥

(भोजन मांडली के पाँच दोषों का सेवन करें) १. दूधादि में अन्य द्रव्य का संयोजन करे, २. अति प्रमाण में आहार ले, ३. अंगार दोष (राग), ४. धुमदोष (द्वेष) से वापरें, ५. अणट्ठाण क्षुधा की वेदना आदि छ कारण बिना आहार ग्रहण करे, शरीर का सौंदर्य बढ़ाने के लिए आहार ले और

रजोहरण न रखकर भी अपने को मुनि रूप में पूजावें ।।३६९।।

अट्ठम् छट्ठ चउत्थं, संवच्छर चाउमास पक्खेसु ।
न करेइ सायबहुलो, न य विहरइ मासकप्पेणं ।।३७०।।

सुखशीलता के कारण प्रति सांवत्सरिक, चउमासी, एवं पाक्षिक तप अट्ठम, छट्ठ एवं उपवास न करे और (उस समय विहित होने पर भी) मास कल्प (आदि नवकल्पी) विहार से न विचरें ।।३७०।।

नीयं गिण्हइ पिंडं, एगागी अच्छए गिहत्थकहो ।
पावसुआणि अहिज्जइ, अहिगारो लोगगहणंमि ।।३७१।।

नीयं-सदा एक घर का आहार ले, एकाकी रहे, गृहस्थों से बातें करता रहे, **खगोल, ज्योतिष, ग्रहचार आदि पापशास्त्र सीखे,** और लोकरंजन के आकर्षण में 'अधिकार'=संतोष माने (परंतु स्व अनुष्ठानों में नहीं) ।।३७१।।

परिभवइ उग्गकारी, सुद्धं मग्गं निगूहए बालो ।
विहरइ सायागरूओ, संजमविगलेसु खित्तेसु ।।३७२।।

उग्रविहारी (अप्रमादी) साधुओं का पराभव (अवगणना-निंदा) करे, 'बाल'=मंदबुद्धिवाला वह (ज्ञान-दर्शन चारित्र रूपी शुद्ध मार्ग को छुपावे, शातागारव युक्त बनकर (उत्तम साधुओं से अभावित) संयम प्रतिकूल क्षेत्रों में सुखशीलता का पोषण हो उस उद्देश से विचरे ।।३७२।।

उग्गाइ गाइ हसइ असंवुडो, सइ करेइ कंदप्पं ।
गिहिकज्जचिंतगोऽवि य, ओसन्ने देइ गिण्हइ ।।३७३।।

ऊँच स्वर से संगीत करे, सामान्य संगीत करें, खुल्ले मुख से (खड़खड़ाहट) हसे, (हास्योद्दीपक वचन बोलकर) सदा कंदर्प (हास्य मजाक) करें, गृहस्थ के कार्यों की चिंता करें और ओसन्न को (शिथिलाचारी को) वस्त्रादि की आप-ले करें ।।३७३।।

धम्मकहाओ अहिज्जइ, घराघरं भमइ परिकहंतो अ ।
गणणाइ पमाणेण य, अइरित्तं वहइ उवगरणं ।।३७४।।

(आजीविका के लिए) धर्मकथा (शास्त्रों) का अध्ययन करें, गृहस्थ के घरों में धर्मोपदेश देने हेतु घूमें, और संख्या से और प्रमाण से अधिक उपकरण रक्खें ।।३७४।।

बारस बारस तिण्णि य, काइय-उच्चार-कालभूमीओ ।
अंतोबहिं च अहियासि, अणहियासे न पडिलेहे ।।३७५।।

स्थान से (जघन्य एक हाथ पास में इसके उपरांत मध्य की) और बाहर की (सो हाथ दूर तक भूमि में) सह्य शंका और असह्य शंका मात्रादि के लिए स्थंडिल के लिए बारह-बारह भूमियों का (मांडले की) और काल ग्रहण की तीन भूमियों का पडिलेहन न करें ।।३७५।।

गीअत्थं संविग्गं, आयरिअं मुअइ चलइ गच्छस्स ।
गुरुणो य अणापुच्छा, जं किंचि [वि] देइ गिण्हइ वा।।३७६।।

गीतार्थ=आगमज्ञ को, संविग्न=मोक्षाभिलाषी उद्यत विहारी ऐसे आचार्य=स्वयं के गुरु को (बिना कारण) छोड़ दे (अगीतार्थ-असंविज्ञ को आगमोक्त क्रम से छोडे इसमें दोष नहीं) कभी-कभी प्रेरणा देने वाले 'गच्छस्स'=गुरुके 'वलइ'=उत्तर देने के लिए सामने बोले, गुरु को पूछे बिना (किसी को) कोई (वस्त्रादि) दे अथवा किसी के पास से ले ।।३७६।।

गुरुपरिभोगं भुंजइ, सिज्जा-संथार-उवगरणजायं ।
किं ति तुमं ति भासइ, अविणीओ गव्विओ लुद्धो।।३७७।।

गुरु जो उपयोग में लेते हैं वह 'शय्या'=शयन भूमि शिष्य वापरें, संथार=पाट पाटला आदि वापरें और (वर्षाकल्प=खास कंबलादि) उपकरणों को स्वयं वापरें, (गुरु संबंधी उपधी भोग्य नहीं परंतु वंदनीय है) (गुरु बोलावे तब) क्या है? ऐसा कहे (मत्थएण वंदामि ऐसा कहना चाहिए) और गुरु के साथ बात करते समय तुम-तुम कहे (आप-आप ऐसा मानसूचक वचन कहना चाहिए ऐसे वचन कहे तो शिष्य विनीत कहा जाता है) तो वह अविनीत, गर्विष्ठ और लुद्ध=विषयादि में गृद्ध है ।।३७७।।

गुरुपच्चक्खाणगिलाण-सेहबालाउलस्स गच्छस्स ।
न करेइ नेव पुच्छइ, निद्धम्मो लिंगमुवजीवी ।।३७८।।

(कर्तव्य तजे) गुरु अनशनी, ग्लान, शैक्षक (नूतन दीक्षित) और बाल मुनियों से युक्त गच्छ में प्रत्येक का (करने योग्य सेवा कार्य) वह न करें (अरे!) पूछे भी नहीं कि (महानुभाव! मेरे योग्य सेवा?) 'निद्धम्मो'=आचार न पाले, मात्र वेष पर पेट भरने वाला हो ।।३७८।।

पहगमण-वसहि-आहार-सुयण-थंडिल्लविहिपरिट्ठवणं ।
नायरइ नेव जाणइ, अज्जावट्टावणं चेव ।।३७९।।

मार्ग में गमन, स्थान, आहार, शयन स्थंडिल भूमि की विधि, अधिक-अशुद्ध आहारादि की परिष्ठापन की विधि को जानते हुए भी निधर्मी होने से आचरण में न ले या जाने ही नहीं, और साध्वीयों को संयम रक्षार्थे

विधि पूर्वक न प्रवर्तावे या विधि ही न जानें ।।३७९।।

सच्छंदगमण-उट्ठाण-सोअणो, अप्पणेण चरणेण ।
समणगुणमुक्कजोगी, बहुजीवखयंकरो भमइ ।।३८०।।

(गुर्वाज्ञा बिना) स्वेच्छा से गमन, (आसन से) उठे, शयन करें (स्वेच्छारी है इसीलिए ही) स्वबुद्धि से स्वयं के माने हुए आचरण से विचरें, श्रमणपने के ज्ञानादि गुणों में प्रवृत्ति रहित हो अतः अनेक जीवों का घात करते हुए विचरण करता रहें ।।३८०।।

वत्थि व्व वायपुण्णो, परिभमइ जिणमयं अयाणंतो ।
थद्धो निव्विन्नाणो, न य पिच्छइ किंचि अप्पसमं।।३८१।।

(मदरोग के औषधसम) सर्वज्ञ वचन से अज्ञ, वायु से भरी हुई मशक के समान गर्व युक्त फिरता रहे, 'थद्धो'=शरीर में गर्व का चिह्नवाला अक्कड होकर ज्ञान हीन होते हुए भी किसी को भी महान न देखें (दूसरों को हीन समझे, ज्ञानी को गर्व नहीं होता, अज्ञानी को ही गर्व होता है) ।।३८१।।

सच्छंदगमणउट्ठाण-सोअणो, भुंजइ गिहीणं च ।
पासत्थाईठाणा, हवंति एमाइया एए ।।३८२।।

स्वच्छंद गमन-उत्थान-शयनवाला (यह पुनःकहकर यह सूचन किया कि सभी गुण गुणी के प्रति परतंत्रता के स्वीकार से साध्य है, परतंत्रता रहित क्या करता है वह कहते हैं—)'गृहस्थों के बीच में बैठकर आहार पानी करे (या यहाँ पर मोह परतंत्रता के दुष्ट आचरण कितने कहे जाय?) पासत्था कुशील आदि के ऐसे-ऐसे दोष स्थान होते हैं। (इस पर से विषय-विभाग से अज्ञ यह न समझे कि तो उद्यत विहारी-(शुद्ध आचारवान् भी बिमारी आदि में दोषित सेवन करे तो वह भी पासत्थादि होता है इसीलिए स्पष्टीकरण करते हैं) ।।३८२।।

जो हुज्ज उ असमत्थो, रोगेण व पिल्लिओ झुरियदेहो ।
सव्वमवि जहाभणियं, तयाइ न तरिज्ज काउं जे।।३८३।।

जो असमर्थ-शास्त्रोक्त क्रिया में अशक्त हो या क्षय आदि रोग से पीड़ित हो, जर्जरित देह हो, वह शास्त्र में कहे अनुसार सभी क्रिया उसी अनुसार न कर सके। गाथा में अंतिम 'जे' पद वाक्यालंकार के लिए है ।।३८३।।

सोऽवि य नियपरक्कम-ववसायधिईबलं अगूहंतो ।
मुत्तुण कूडचरिअं, जई जयई तो अवस्स जई ।।३८४।।

वह भी (ऐसा दूसरा कोई द्रव्य-क्षेत्र-काल से आपत्ति ग्रस्त हो वह भी) स्वयं के पराक्रम-संघयण के वीर्य से शक्य व्यवसाय-बाह्य प्रवृत्ति और धैर्य-(मनोवीर्य) की शक्ति (स्वकार्य प्रवृत्ति-सामर्थ्य) को छूपावे नहीं और उसमें माया का त्यागकर प्रामाणिक प्रयत्न करें वह नियमा (जिनाज्ञा को वफादार होने से) सुसाधु ही हैं ।।३८४।।

अलसो सढोऽवलित्तो, आलंबणतप्परो अइपमाई ।
एवं ठिओऽवि मन्नइ, अप्पाणं सुट्ठिओम्हि त्ति ।।३८५।।

(मायावी कैसा होता है तो कहा कि—) प्रमादी, शठ-ठग विद्या करने वाला, 'अवलिप्त'=गर्विष्ठ, 'आलंबन'=कुछ भी बहाना बनाकर सभी कार्यों में अधम स्वार्थ पूर्वक प्रवर्ती करें, गाढ़ निद्रादि अतिप्रमाद करें, ऐसी दुर्दशायुक्त होने पर भी स्वयं की जात को 'मैं सुस्थित'-(गुणवान् साधु) हूँ ऐसा मानें। (दूसरों को अपनी माया से अपनी गुणियलता बतावें) ।।३८५।।

जोऽवि य पाडेऊणं, मायामोसेहिं खाइ मुद्धजणं ।
तिग्गाममज्झवासी, सो सोयइ कवडखवगु व्व ।।३८६।।

(मायावी को नुकशान में) (लोक रंजन करने वाला) जो कोई मुग्ध को (भद्रक आत्मा को) माया पूर्वक मृषा वचनों से स्वयं के वश में लाकर खाइ-ठगता है वह तीन गाम के बीच में रहनेवाले ब्राह्मण मायावी, खमणी, संन्यासी समान अंत में शोक करता रहता है ।।३८६।।

एगागी पासत्थो, सच्छंदो ठाणवासी ओसन्नो ।
दुग्गमाई संजोगा, जह बहुआ तह गुरू हुंति ।।३८७।।

अकेला (साधर्मिक साधु रहित) पासत्थो, स्वच्छंद (आज्ञा रहित) (सदा स्थिरवासी) अवसन्न (आवश्यकादि में शिथिल ये पाँच पद है इनके (एकेक पद के पाँच भांगे होते हैं) द्विक आदि संजोग (होकर १० भांगे) इसमें जैसे-जैसे पद मिले, वैसे-वैसे अधिक दुष्ट भांगे होते हैं। (तात्पर्य यह है कि कोई एकाकी का दोष सेवन करता है या पासत्था का ही दोष सेवन करता हो ऐसे पाँच भांगे। दो-दो संयोगवाले १० भांगे अेकाकी भी पासत्था भी, एकाकी स्वच्छंद इस प्रकार समझना वैसे ही तीन संयोगी १० भांगे, चार संयोगी ५ भांगे और पाँच संयोगी १ भांगा पाँच संयोगी साधु अधिक दुष्ट) ।।३८७।।

गच्छगओ अणुओगी, गुरुसेवी अनियओ गुणाउत्तो ।
संजोएण पयाणं, संजमआराहगा भणिया ।।३८८।।

(पासत्थादि से विपरीत सुसाधु) १. गच्छवासी, २. ज्ञानादि युक्त, ३. गुरु परतंत्र, ४. 'अनियत'=मासकल्पादि मर्यादा युक्त विचरने वाले ५. 'गुणेसु'=प्रतिदिन की क्रिया में अप्रमादी। इन पदो के संयोग से (पूर्व गाथा के जैसे (५-१०-१०-५-१) भांगे संयम आराधकों (तीर्थंकर गणधरादि) ने कहे है। इनमें जैसे-जैसे पदवृद्धि हो वैसे गुणवृद्धि समझना ॥३८८॥

निम्ममा निरहंकारा, उवउत्ता नाणदंसणचरित्ते ।
एगखित्तेऽवि ठिआ, खवंति पोराणयं कम्मं ॥३८९॥

(आर्य समुद्रसूरिजी आदि महामुनियों ने स्थिरवास किया परंतु वे जिनाज्ञा पालक होने से आराधक थें क्योंकि) जो ममत्व बुद्धि से रहित हो, अहंकार रहित हो, ज्ञान-दर्शन-चारित्र में दत्तचित्त हो, फिर वे एक ही क्षेत्र में क्षीण जंघा-बल आदि पुष्ट कारण से स्थिर वास करे तो भी पूर्व संचित कर्मों को खपाते हैं ॥३८९॥

जियकोहमाणमाया, जियलोहपरीसहा य जे धीरा ।
वुड्ढावासेऽवि ठिया, खवंति चिरसंचियं कम्मं ॥३९०॥

जिन्होंने क्रोध, मान माया का निग्रहकर उनको जीत लिये हैं, जिन्होंने लोभ और परीसहों को जीत लिये हैं, वे धीर-सत्त्ववान (मुनि-पूर्व में कहा उस प्रकार) वृद्धावस्था में स्थिरवास में रहते हुए चिर संचित कर्म समूह का नाश करते हैं ॥३९०॥

पंचसमियाः तिगुत्ता, उज्जुत्ता संजमे तवे चरणे ।
वाससयं पि वसंता, मुणिणो आराहगा भणिया ॥३९१॥

पाँच समिति से समित (सम्यक् प्रवृत्तिवाले) और तीन गुप्ति से (मन-वचन-काया से सत्प्रवृत्ति असत् निवृत्ति) गुप्त (सुरक्षित) और (१७ प्रकार से संयम बारह भेदे तप और दश भेदे यति धर्म सहित साध्वाचाररूप चरण में उद्युक्त मुनि जन को एकसो वर्ष तक भी एक क्षेत्र में रहना पड़े तो भी उनको तीर्थंकरादि ने आराधक कहे हैं ॥३९१॥

तम्हा सव्वाणुन्ना, सव्वनिसेहो य पवयणे नत्थि ।
आयं वयं तुलिज्जा, लाहाकंखि व्व वाणियओ ॥३९२॥

इस कारण जिनागम में (सभी कर्तव्यों के लिए यह करना ही ऐसी एकांते अनुज्ञा नहीं है) और (नहीं ज करना) ऐसा सर्वथा निषेध भी नहीं है। (कारण कि आगम में सभी कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से विधान-निषेध है। उससे कभी विचित्र द्रव्य-क्षेत्रादि की

अपेक्षा से विधेय के त्याग का एवं निषिद्ध के आचरण का प्रसंग आता है इस कारण) 'आयं वयं तुलिज्जा' ज्ञानादि के लाभ-हानि की तुलना करनी जैसे लाभाकांक्षी व्यापारी (व्यापार में लाभ-हानि का विचारकर) अधिक लाभ वाली प्रवृत्ति करता है। मुनि को यहाँ प्रवृत्ति निवृत्ति में ध्यान यह रखना है कि राग-द्वेष के त्याग पूर्वक स्वात्मा को सम्यक् संतोषित करना। परंतु माया पूर्वक दुष्ट आलंबन न लेना क्योंकि-- ।।३९२।।

धम्मंमि नत्थि माया, न य कवडं आणुवत्तिभणियं वा ।
फुडपागडमकुडिल्लं, धम्मवयणमुज्जुयं जाण ।।३९३।।

हे जीव! तूं समझ कि धर्म तो सद्भाव-सरल भाव से साध्य है। उससे इसमें माया का अत्यंत त्याग होना चाहिए। कपट-दूसरे को ठगने की प्रवृत्ति न हो, अथवा अणुवत्ति 'भणियं'=बोलने का सदोष दूसरे को खुश करने के लिए न हो किंतु 'स्फूट'=स्पष्ट अक्षर युक्त, प्रकट=शरम में न आना पड़े वैसे 'अकुटिल'=माया रहित धर्मवचन ये धर्म प्रति 'ऋजु'=अनुकूल है ।।३९३।।

नवि धम्मस्स भडक्का, उक्कोडा वंचणा व कवडं वा ।
निच्छम्मो किर धम्मो, सदेवमणुआसुरे लोए ।। ३९४।।

'भडक्का'=बड़ा आसन आदि आडंबर यह धर्म का साधन नहीं है (वैसे) उक्कोडा=तुम मुझे यह दो तो मैं यह धर्म करूं ऐसा बदला या 'वंचना'=सामने वाला कुछ देता है अतः तत्त्वज्ञानादि देने की मायायुक्त चतुराई या कपट-मायाचार (दूसरे को ठगने की प्रवृत्ति) यह धर्म का साधन नहीं है। (पूर्व की गाथा की यहाँ पुनरुक्ति की वह उस माया के साथ धर्म का अत्यंत विरोध बताने के लिए। यह अत्यंत विरोध होने से ही कहते हैं) 'निश्छद्म'=माया (बहाने) रहित हो वही ही 'किर धर्म'=आप्तोक्त धर्म के रूप में देव मनुष्य असुर सहित लोक में प्रवृत्त हैं ।।३९४।।

भिक्खू गीयमगीए, अभिसेए तहय चेव रायणिए ।
एवं तु पुरिसवत्थुं, दव्वाइ चउव्विहं सेसं ।।३९५।।

(३९२वीं गाथा में आय-व्यय तोलकर वर्तन करने का कहा तो वह किस आश्रय से तोलना? तो कहा कि--) साधु-गीतार्थ-आगमज्ञ, अगीतार्थ, 'अभिषेक'=उपाध्याय, 'तथा च'=आचार्य, 'चेव'=स्थिर-गणावच्छेदक, प्रवर्त्तक, 'रायणिए'=रत्नाधिक (चारित्र पर्याये अधिक), इस प्रकार पुरुष वस्तु को आश्रयकर आय-व्यय की तुलना करनी। शेष द्रव्यादि (द्रव्य-क्षेत्र-काल-

भाव) चार प्रकार को आश्रय लेकर तोलना (अलबत् द्रव्यादि चार के द्रव्य में पुरुष का समावेश हो जाता है किन्तु यहाँ अलग लिये वह उनकी प्रधानता दर्शाने के लिए अब इस प्रकार तुलना न करे तो अतिचार लगे वह दर्शाते हैं ।।३९५।।

चरणइयारो दुविहो, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
मूलगुणे छट्ठाणा, पढमो पुण नवविहो तत्थ ।।३९६।।

(अतिचार सामान्य से रत्नत्रयी के प्रसंग में लगते है विशेष से) चारित्र में अतिचार (अतिक्रमण) दो प्रकार से १. मूलगुण में और २. उत्तरगुण में (इन में) मूलगुण में छ स्थान (पाँच महाव्रत छट्ठा रात्रि भोजन विरमण व्रत) अतिचार के विषय है। इसमें भी प्रथम प्राणातिपात विरमण में (पृथ्वीकायादि ५ विकलेन्द्रिय ३ पंचेन्द्रिय १ इन नौ की रक्षा करने की होने से) नौ प्रकार से है (अतिचार के नौ स्थान) ।।३९६।।

सेसुक्कोसो मज्झिम-जहन्नओ, वा भवे चउद्धा उ ।
उत्तरगुणऽणेगविहो, दंसणनाणेसु अट्ठट्ठ ।।३९७।।

(शेष मृषावादादि विरमणादि पाँच अतिचार के स्थान बनते हैं, उसमें मृषावादादि अतिचार) उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्य ३ प्रकार से होता है या द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से ऐसे ४ प्रकार से हो उत्तरगुण=पिंड विशुद्धि आदि के अतिचार अनेक प्रकार से बनते हैं। वैसे दर्शन-ज्ञान में ८-८ आचार होने से अतिचार के ८-८ स्थान है। यहाँ दर्शन-ज्ञान से चारित्र के अतिचार प्रथम कहने का कारण चारित्र मोक्ष का अंतरंग स्वरूप है। मोक्ष संपूर्ण स्थिर आत्म स्वरूप है और चारित्र आंशिक स्थिरता रूप है ।।३९७।।

जं जयइ अगीअत्थो, जं च अगीयत्थनिस्सिओ जयइ ।
वट्टावेइ य गच्छं, अणंतसंसारिओ होइ ।।३९८।।

(अतिचार असत्प्रवृत्ति से लगता है, सत्प्रवृत्ति ज्ञान पूर्वक के प्रयत्न से होती है नहीं तो) 'अगीतार्थ'=शास्त्रज्ञान रहित (मर्म से अनभिज्ञ) जो कुछ (तप क्रियादि में) प्रयत्न करता है और ऐसे अगीतार्थ की निश्रा में रहा हुआ (अगीतार्थ को गुरु मानकर) यत्न करता है और गच्छ चलाता है (आचार्य बनता है) (च शब्द से अज्ञ होने पर भी अभिमान से ग्रंथों की व्याख्या करता है। वह अनंत संसारी बनता है ।।३९८।।

कह उ? जयंतो साहू, वट्टावेइ य जो उ गच्छं तु ।
संजमजुत्तो होउं, अणंतसंसारिओ भणिओ ।।३९९।।

(प्रश्न होता है कि तपादि अनुष्ठान में) प्रत्यनशील साधु और जो गच्छ चलावे वह (और च शब्द से ग्रंथों की व्याख्या करने वाला) संयम युक्त होते हुए भी अनंत संसारी कैसे होता है? ।।३९९।।

दव्वं खित्तं कालं, भावं पुरिसपडिसेवणाओ उ ।
नवि जाणइ अगीअत्थो, उस्सग्गववाइयं चेव ।।४००।।

(उत्तर में) अगीतार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पुरुष और प्रतिसेवना=निषिद्ध आचरण को नहीं जानता। और उत्सर्ग अपवाद मार्ग के अनुष्ठान एव=तद्‌गत गुणदोष को अगीतार्थ होने से नहीं जानता। [जिससे अज्ञानता से विपरीत वर्तनकर सानुबंध-कर्मबंधकर अनंत संसारी होता है] ।।४००।।

जहठियदव्वं न याणइ, सचित्ताचित्तमीसियं चेव ।
कप्पाकप्पं च तहा, जुग्गं वा जस्स जं होइ ।।४०१।।

(पूर्व की द्वारा गाथा के प्रत्येक पद का विचार—) अगीतार्थ साधु-द्रव्य के विषय में यथास्थित द्रव्य नहीं जानता, जैसे-यह द्रव्य सचित्त है? या अचित्त है? या मिश्र है? वैसे ही साधु को कल्प्य है या अकल्प्य? साधु के योग्य है या अयोग्य? या 'जस्स जं' कोई ग्लान, बाल, तपसी आदि को क्या चाहिए? (अगीतार्थ यह कुछ नहीं जानता) ।।४०१।।

जहठियखित्त न जाणइ, अद्धाणे जणवए अ जं भणियं।
कालं पि अ नवि जाणइ, सुभिक्ख-दुभिक्ख जं कप्पं।।४०२।।

अगीतार्थ यथास्थित क्षेत्र को न समझे कि यह क्षेत्र संयमोपकारक है या अपकारक? और विहार के मार्ग में है या उन उन ग्राम नगरादि देश में जिनागमों में कर्तव्य रूप में जो कहा हो उसे न जानता हो, वैसे यथास्थित काल-समय को भी नहीं जानता, सुकाल दुष्काल है, उस समय पदार्थ या करणीय क्या है? उसे नहीं जानता ।।४०२।।

भावे हट्ठगिलाणं, नवि याणइ गाढऽगाढकप्पं च ।
सहु असहुपुरिसं तु, वत्थुमवत्थुं च नवि जाणे ।।४०३।।

अगीतार्थ भाव के विषय में भी न जानें (साधु नीरोगी है या रोगिष्ठ? वैसे ही गाढ़-प्रयोजन में क्या कल्प्य? और सामान्य प्रयोजन में क्या कल्प्य? उचित क्या? वैसे ही पुरुष के विषय में यह भी नहीं जानता कि साधु सहिष्णु (खड़तल-कठोर शरीरवान) है या असहिष्णु-कोमल शरीरवान? शरीर परिश्रमी है या अपरिश्रमी? वस्तु-आचार्यादि है या सामान्य साधु? यह भी न जानें

(अर्थात् इसमें व्यक्ति कैसी है? उसके योग्य-अयोग्य क्या है उसे भी न जानें) ।।४०३।।

पडिसेवणा चउद्धा, आउट्टिपमायदप्पकप्पेसु ।
न वि जाणइ अग्गीओ, पच्छित्तं चेव जं तत्थ ।।४०४।।

प्रतिसेवना=निषिद्ध आचरण ४ प्रकार से है। १. आकुट्टि, २. प्रमाद, ३. दर्प, ४. कल्प। ['आकुट्टि'=जानबूझकर करना, 'प्रमाद'=कंदर्प, हास्य, मश्करी से करना, दर्प-आपत्ति से, निष्कारण सेवन, दृष्टांत कूदना आदि 'कल्प'=कारण से शास्त्र सम्मत करना] अगीतार्थ इन भेदों प्रभेदों को न जाने वैसे ही आलोचनादि प्रायश्चित्त न जाने, 'चेव'=निषिद्ध-सेवा के भाव क्यों बदले? कैसे बदले? आदि न जानें। यहाँ न जानें यह बहुतबार कहा इसका सूचन किया कि आगमज्ञान बिना कर्तव्य-अकर्तव्य जाना नहीं जाता। स्वमति-कल्पना तो सत्य के साथ संबंधित नहीं, उससे वह महामोह रूप है ।।४०४।।

जह नाम कोइ पुरिसो, नयणविहूणो अदेसकुसलो य ।
कंताराडविभीमे, मग्गपणट्ठस्स सत्थस्स ।।४०५।।
इच्छइ य देसियत्तं, किं सो उ समत्थ देसियत्तस्स? ।
दुग्गाइ अयाणंतो, नयणविहूणो कहं देसे? ।।४०६।।

जैसे कोई पुरुष नयन रहित हो, मार्ग से अज्ञ हो और वह भयंकर अटवी में मार्ग भूले हुए सार्थ को मार्गदर्शक बनने में क्या समर्थ है? 'दुर्ग'=विषम-टेढ़े-मेढ़े ऊँचेनीचे या समतल मार्ग को नहीं देख सकने वाला क्या दूसरे को मार्ग पर चढ़ाने वाला बन सकता है? नहीं सर्वथा असंभव ।।४०५-४०६।।

एवमगीयत्थोऽवि हु, जिणवयणपईवचक्खुपरिहीणो ।
दव्वाइँ अयाणंतो, उस्सग्गववाइयं चेव ।।४०७।।
कह सो जयउ अगीओ? कह वा कुणउ अगीयनिस्साए?।
कह वा करेउ गच्छं?, सबालवुड्ढाउलं सो उ ।।४०८।।

इस प्रकार अगीतार्थ त्रिभुवन प्रकाशक दीपक समान जिनवचनरूपी चक्षुरहित तत्त्व दर्शन में अंध वह द्रव्यादि को, उत्सर्ग, अपवाद के अनुष्ठान को जानता ही नहीं। वह अगीतार्थ उचित प्रयत्न कैसे करे? या कोई ऐसे अगीतार्थ की निश्रा में रहकर हित को कैसे साध सके? या बालवृद्धों से और तपस्वी, अतिथि मुनियों से भरे हुए गच्छ को कैसे अच्छी प्रकार संभाल

सके? वह गच्छ की सारणा वारणादि से अनभिज्ञ है विपरीत प्रवृत्ति से अनर्थ की परंपरा सर्जे ।।४०७-४०८।।

सुत्ते य इमं भणियं, अप्पच्छित्ते य देइ पच्छित्तं ।
पच्छित्ते अइमत्तं, आसायण तस्स महईओ ॥४०९॥

आगम में ऐसा कहा है कि प्रायश्चित्त पात्र नहीं उसे प्रायश्चित्त दे दे या प्रायश्चित्त के पात्र को अधिक प्रायश्चित्त दे दे। उसे ज्ञानादि की प्राप्ति के नाश की बड़ी आशातना लगती है। क्योंकि अत्यधिक प्रायश्चित्त वहन करने में इतना समय ज्ञानादि की नयी प्राप्ति से रुक जाता है ।।४०९।।

आसायण मिच्छत्तं, आसायणवज्जणाउ सम्मत्तं ।
आसायणानिमित्तं, कुव्वइ दीहं च संसारं ॥४१०॥

आशातना (ज्ञानादि के नाश रूप होने से साक्षात्) मिथ्यात्व है। आशातना से बचना यह सम्यक्त्व है क्योंकि आशातना वर्जन का परिणाम सम्यक्त्व है। इसीलिए अगीतार्थ अत्यधिक प्रायश्चित्त दानादि अविधि सेवन द्वारा आशातना करने के निमित्त से स्वयं का संसार दीर्घ और च शब्द से क्लिष्ट बनाता है ।।४१०।।

एए दोसा जम्हा, अगीय जयंतस्सऽगीयनिस्साए ।
वट्टावेइ गच्छस्स य, जोवि गणं देइऽगीयस्स ॥४११॥

(सारांश) जिस कारण से १. अगीतार्थपने में किये जाते स्वयं आराधना के प्रत्यन में और २. दूसरे अगीतार्थ की निश्रा में रहकर किये जाते आराधना के प्रयत्नों में उपरोक्त दोष है। उससे ही (स्वयं अगीतार्थ ही रहकर) जो गच्छ को चलाता है और ३. **जो अगीतार्थ को गच्छभार सौंप देता है उसको भी उपरोक्त दोष लगते हैं।** [इससे शास्त्रबोध प्राप्त करने के लिए अतीव प्रयत्न करना चाहिए यहाँ तक द्वार गाथा का विवेचन किया] ।।४११।।

अबहुस्सुओ तवस्सी, विहरिउकामी जाणिऊण पहं ।
अवराहोपयसयाइं, काऊण वि जो न याणेइ ॥४१२॥
देसियराइयसोहिय, वयाइयारे य जो न याणेइ ।
अविसुद्धस्स न वड्ढइ, गुणसेढी तत्तिया ठाइ ॥४१३॥

(अब अल्प आगमज्ञान वाले की भी ऐसी ही स्थिति बताते हैं।)

जो मोक्ष मार्ग को नहीं जानने से अवराह=शताधिक अतिचार स्थान का सेवन करता है। कारण कि— 'अबहुश्रुत'=विशिष्ट श्रुतज्ञान रहित है फिर

भी 'विहरिउकामो'=गीतार्थ के बिना अकेले विहार करने की इच्छावाला होता है। वह फिर चाहे 'तवस्सी'=विकृष्टतप (अट्ठम से अधिक तप) से शरीर को तपाकर शरीर को सुखा देता है। (फिर भी उसकी गुणश्रेणि बढ़ती नहीं) दैवसिंक रात्रिक=अतिचारों की 'सोहिय'=प्रायश्चित्त से शुद्धि=प्रक्षालन को, और मूल उत्तरगुण रूप व्रतों के खंडन अतिचारों स्वरूप को नहीं जानता। ऐसे अविशुद्ध की गुणश्रेणि ज्ञानादिगुण सोपान आरोहणा बढ़ती नहीं उतनी ही रहती है। यहाँ टीका में भी विशेष लिखा है कि सद्‌गुरुनिश्रारहित को स्वयं प्रायश्चित्त से शुद्ध और सम्यक् प्रवृत्तिवान होने पर भी गुणश्रेणि बढ़ती नहीं। पूर्व में जितनी रहे उतनी ही रहती है क्योंकि गुणवान गुरु का योग ही गुणश्रेणि की वृद्धि का कारण है इसमें भी अल्पज्ञानी एकाकी मुनि संक्लिष्ट चित्तवान् हो तो उसकी गुणश्रेणि तो नष्ट ही हो जाती है। और उसको पूर्वोक्त अनंत संसारीपना ही प्राप्त होता है ।।४१२-४१३।।

अप्पागमो किलिस्सइ, जइ वि करेइ अइदुक्करं तु तवं।
सुंदरबुद्धीइ कयं, बहुइयं पि न सुंदरं होइ ।।४१४।।

'अल्पागम'=कम पढ़ा हुआ जो कि अति दुष्कर तप करता हो तो भी वह केवल (अज्ञान) कष्ट ही भोग रहा है क्योंकि स्व कल्पनानुसार 'यह सुंदर है' ऐसी बुद्धि से किया हुआ भी वास्तव में सुंदर नहीं होता। (कारण कि वह अज्ञान से उपहत है जैसे—(लौकिक ऋषियों का तप-कष्ट) ।।४१४।।

अपरिच्छिय सुयनिहसस्स, केवलमभिन्नसुत्तचारिस्स ।
सव्वुज्जमेण वि कयं, अन्नाणतवे बहुं पडइ ।।४१५।।

'श्रुतनिकष'=आगम के सम्यग्भाव को, रहस्य को (अर्थात् उत्सर्ग अपवादादि के विषय विभागानुसार) अच्छी प्रकार निश्चित्तरूप से नहीं जानने से और मात्र अभिन्न-विवरण हीन-विशिष्ट व्याख्यान रहित सूत्र मात्र के अनुसार 'चारि'=चारित्र अनुष्ठान करने के स्वभाववाला उसके समस्त प्रयत्न से भी किये हुए अनुष्ठान विशेषकर (पंचाग्नि सेवनादि रूप) अज्ञानतप में जाते है? मात्र अल्प ही आगमानुसारिता में आता है क्योंकि ऊपर कहा वैसा उसे विषय विभाग का ज्ञान नहीं है। वह इस प्रकार सूत्र में सामान्य से कहे हुए पदार्थ सूत्र की व्याख्या में विशेषरूप में दर्शाते हैं। जिससे पूर्वापर में कहे हुए उत्सर्ग सूत्र या अपवाद सूत्र के साथ विरोध न हो, उस विवरण के ज्ञान बिना वह कैसे समझे? और जो सूत्र ही कार्यकारी हो यानि अकेले सूत्र का यथाश्रुत अर्थ ही लेना हो, परंतु उस पर विचारणा न करनी हो तो अनुयोग

पूर्वाचार्यों की व्याख्याएँ निरर्थक हो जाय। दृष्टांत रूप में– ।।४१५।।

जह दाइयम्मि वि पहे, तस्स विसेसे पहस्सऽयाणंतो ।
पहिओ किलिस्सइ च्चिय, तह लिंगायारसुअमित्तो।।४१६।।

जैसे प्रवास का मार्ग केवल दिग्दर्शन रूप में तो बता दिया हो पर प्रवासी (बिच के ग्राम, उसके बिच में क्या-क्या? और सभय-निर्भय कितना? आदि) विशेष न जानता हो (तो भूख चोर आदि से) कष्ट ही पाता है। उसी प्रकार 'लिंग'=रजोहरणादि वेश 'आचार'=मात्र सूत्रानुसारी आपमति से की जाने वाली क्रिया और 'श्रुतमात्र'=विशिष्ट अर्थ रहित सूत्रधर (अल्पज्ञानी भी अनेक अपायो से कष्ट ही पाता है) ।।४१६।।

कप्पाकप्पं एसणमणेसणं, चरणकरणसेहविहिं ।
पायच्छित्तविहिं पि य, दव्वाइगुणेसु अ समग्गं ।।४१७।।

(इतना-इतना न जाने वह निर्मल चारित्र का पालन कैसे कर सकेगा?) जैसे—'कप्पाकप्प'=साधु को कल्प्य अकल्प्य (उचितानुचित) या मासकल्प, स्थविर कल्पादि=तदितर, 'एसण'=गवेषणा ग्रहणैषणा, ग्रासैषणा में निर्दोषता, सदोषता, चरण-मूलगुण महाव्रतादि की चरण सित्तरी, 'करण'=उत्तरगुण पिंड विशुद्धि आदि की करण सित्तरी और 'सेह'=दीक्षार्थी या नूतन दीक्षित को सामाचारी शिक्षण की क्रमविधि (उसमें आलोचनादि प्रायश्चित्त विधि यह किसे क्या देना और किस प्रकार करवाना यह विधि वह भी द्रव्यादि 'गुणेषु'=द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के योग्य-अयोग्य संयोगों में (देय-अदेय की) समग्र विधि ।।४१७।।

पव्वायणविहिमुट्ठावणं च, अज्जाविहिं निरवसेसं ।
उस्सग्गववायविहिं, अयाणमाणो कहिं? जयउ ।।४१८।।

दीक्षा प्रदान विधि, 'उपस्थापना'=महाव्रतारोपण विधि, 'अज्जा विधि'=साध्वी गणपालन विधि और संपूर्ण उत्सर्ग अपवाद विधि (द्रव्यादि की अपेक्षा से कर्तव्य-अकर्तव्य मार्ग) को नहीं जानने वाला अल्पज्ञ किस प्रकार शुद्ध संयम में प्रयत्न कर सकेगा? इससे ज्ञान का प्रयत्न करने जैसा और ज्ञानार्थी को गुरु आराध्य है ।।४१८।।

सीसायरियकमेण य, जणेण गहियाइं सिप्पसत्थाइं ।
नज्जंति बहुविहाइं, न चक्खुमित्ताणुसरियाइं ।।४१९।।

लोकोत्तर साधु के लिए तो फिर, लोक में भी वैसे विवेक रहित (धर्म के विवेक से रहित) जन सामान्य द्वारा विद्यार्थी कलाचार्य के क्रम से ही

चित्रादि शिल्प और व्याकरणादि शास्त्र ग्रहण किये जाते हैं तभी ही उनको उनका 'नज्जंति'=यथार्थ ज्ञान होता है। किन्तु मात्र नयनों से अनेक प्रकार के शिल्प और शास्त्र देखे अर्थात् स्वबुद्धि से ग्रहण करने से यथार्थ बोध नहीं होता। इससे यह निर्णित हुआ कि— ॥४१९॥

जह उज्जमिउं जाणइ, नाणी तव संजमे उवायविऊ ।
तह चक्खुमित्तदरिसण-सामायारी न याणंति ॥४२०॥

ज्ञानी और तप संयम में 'उपायविउ'=उससे आराधना में कुशल जिस प्रकार 'उज्जमिउं'=सम्यग् अनुष्ठान (आराधना) करना जानता है ऐसी रीति से (चक्षु से दूसरे की क्रिया देखकर देखादेखी क्रिया करने वाले) सामाचारी आचरण करने वाले (सम्यग् अनुष्ठान करना नहीं जानते) इस प्रकार ज्ञान की प्रधानता श्रवणकर ज्ञान मात्र से संतोषित नहीं बनना क्योंकि--॥४२०॥

सिप्पाणि य सत्थाणि य, जाणंतोऽवि न य जुंजई जो उ।
तेसिं फलं न भुंजइ, इअ अजयंतो जई नाणी ॥४२१॥

शिल्प और शास्त्र जानने वाला भी जो उसे क्रिया में नहीं लगाता तो उसके, द्रव्यलाभादि फल को भोग नहीं सकता। उसी प्रकार साधु ज्ञानी होने पर भी उस अनुसार क्रिया नहीं करे तो मोक्ष फल प्राप्त नहीं कर सकता ॥४२१॥

गारवतियपडिबद्धा, संजमकरणुज्जमम्मि सीअंता ।
निग्गंतूण गणाओ, हिंडंति पमायरण्णम्मि ॥४२२॥

(ज्ञान हो फिर क्रिया क्यों नहीं? तो कहा कि ज्ञानी होने पर भी रस-ऋद्धि-शाता) गारवत्रिक में आसक्त होकर 'संयम'=षट्कायरक्षादि के आचरण विषय के उद्यम में उत्साह में शिथिल बनकर गच्छ में से (निकलकर यथेष्ट प्रवृत्ति से विषय कषाय रूपी चोर और शिकारी पशुओं से युक्त) प्रमाद-अरण्य में विचरण करता है (उससे वह क्रियाहीन हो जाता है) ॥४२२॥

नाणाहिओ वरतरं, हीणोऽवि हु पवयणं पभावंतो ।
न य दुक्करं करंतो, सुट्ठु वि अप्पागमो पुरिसो॥४२३॥

(कुछ क्रिया रहित ज्ञानी और कुछ ज्ञान रहित क्रियावान् इन दोनों में अच्छा कौन? तो कहा कि—) चारित्र से हीन भी **वाद-व्याख्यानादि से प्रवचन की प्रभावना करनेवाला** (शास्त्रोक्त प्ररूपणा करे तो) ज्ञानाधिक यह अच्छा है किन्तु (मासक्षमणादि) दुष्कर तप करने वाला अल्प ज्ञानी भी वैसा

नहीं। क्योंकि अल्पज्ञ शास्त्र-विधानों से अज्ञ होने से वास्तविकता से वह कितनी आराधना करें? ।।४२३।।

णाणाहियस्स नाणं, पुज्जइ नाणा पवत्तए चरणं ।
जस्स पुण दुण्ह इक्कं पि, नत्थि तस्स पुज्जए काइं?।।४२४।।

ज्ञान की विशेषता है-ज्ञानाधिक का ज्ञान पूजा जाता है। क्योंकि ज्ञान से चारित्र का प्रवर्त्तमान है और चारित्री साधु ज्ञानी हो तो विशेष पूजा जाता है जिसमें ज्ञान-चारित्र दोनों में से एक भी न हो तो उसका क्या पूजा जाय? (वास्तव में ज्ञान-चारित्र, दर्शन-चारित्र, तप-चारित्र परस्पर सापेक्ष रहकर ही कार्य करते हैं ।।४२४।।

नाणं चरित्तहीणं, लिंगग्गहणं च दंसणविहीणं ।
संजमहीणं च तवं, जो चरइ निरत्थयं तस्स ।।४२५।।

चारित्र बिना का ज्ञान निरर्थक है, समकित बिना का साधुवेश निरर्थक है, संयम बिना का जो तपाचरण है वह मोक्ष की अपेक्षा से निष्फल है ।।४२५।।

जहा खरो चंदणभारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स ।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी न हु सुग्गईए।।४२६।।

वहाँ ज्ञान, चारित्र के बिना कैसे निष्फल है? तो कहा कि—जैसे चंदन का भारवाही गधा भार का भागी बनता है परंतु चंदन के शीत विलेपनादि का भागी नहीं बनता। इसी प्रकार चारित्र रहित ज्ञानी मात्र ज्ञान का भागी बनता है परंतु सुगति मोक्ष का भागी नहीं बनता ।।४२६।।

संपागडपडिसेवी, काएसु वएसु जो न उज्जमइ ।
पवयणपाडणपरमो, सम्मत्तं कोमलं तस्स ।।४२७।।

(चारित्र हीन का दर्शन-समकित निरर्थक—) जो साधु 'सुपागड'=लोक के देखते हुए भी निषिद्ध की आचरणा करता हो और पृथिव्यादि षट्काय की रक्षा में और अहिंसादि महाव्रतों में जो उद्यम नहीं करता उससे वह शासन की लघुता-प्रधान जीवन जीता हो उसका समकित कोमल फोतरे जैसा है ।।४२७।।

चरणकरणपरिहीणो, जइ वि तवं चरइ सुट्ठु अइगुरुअं।
सो तिल्लं य किणंतो, कंसियबुद्धो मुणेयव्वो ।।४२८।।

चारित्रहीन का तप कैसा? तो कहा कि—चरण सित्तरी के संयम बिना का जो कि चार-चार मास के उपवासादि अति कष्टमय तप करता हो

भी वह 'क़ंसिया'=दर्पण से मापकर तल देकर माप के बिना तेल खरीदने वाले ग्रामवासी के जैसा है (साधु मूर्ख इसीलिए कि वह अति अल्प लेकर अधिक हार जाता है) ।।४२८।।

छज्जीवनिकायमहव्वयाण, परिपालणाए जइधम्मो।

जइ पुण ताइँ न रक्खइ, भणाहि को नाम सो धम्मो?।।४२९।।

साधु धर्म षड् जीवनिकाय की रक्षा और महाव्रतों के पालने से बनता है। अब वह जो इसका पालन-रक्षण न करे तो हे शिष्य! तूं ही कह उसका कौन सा धर्म होगा? अर्थात् धर्म रूप नहीं होगा ।।४२९।।

छज्जीयनिकायदयाविवज्जिओ, नेय दिक्खिओ न गिही ।

जइधम्माओ चुक्को, चुक्कइ गिहिदाणधम्माओ ।।४३०।।

षड् जीवनिकाय की दया से रहित (अर्थात् जीवों की विराधना से जीव हिंसा से) वह दीक्षित साधु ही नहीं है। क्योंकि वह चारित्र हीन है और साधु वेश धारण करने से वह गृहस्थ भी नहीं है। इस स्थिति में यति धर्म से भ्रष्ट गृहस्थ को शक्य दान धर्म से भी वह रहित है कारण सुसाधु को गृहस्थ के आहार पानी लेने कल्पे, परंतु ऐसे साधु के पास से कुछ भी लेना न कल्पे। अर्थात् ऐसे के भाग्य में सुसाधु को दान भी नहीं ।।४३०।।

सव्वाओगे जह कोइ, अमच्चो नरवइस्स घित्तुणं ।

आणाहरणे पावइ, वहबंधणदव्वहरणं च ।।४३१।।

संपूर्ण गुण अति दुर्लभ है उससे जितना धर्म करे उतना अच्छा नहीं? हां, परंतु वह देशविरति के विचित्र प्रकार होने से गृहस्थ के लिए अच्छा, परंतु सर्व विरति धर साधु के लिए अच्छा नहीं। उसको तो **अल्प भी आज्ञा भंग भयंकर बनता है।** जैसे कोई मंत्री जो राजा प्रसन्न होने पर राजा के पास से राजा संबंधी सभी अधिकार प्रासकर कभी राजाज्ञा का उल्लंघन करें तो उसे दंडादि से मार, रस्सी से बंधन, संपत्ति से रहितता और च शब्द से कभी मृत्यु भी मिल जाय ।।४३१।।

तह छक्कायमहव्वय-सव्वनिवित्तीउ गिण्हिऊण जई ।

एगमवि विराहंतो, अमच्च-रण्णो हणइ बोहिं ।।४३२।।

उसी प्रकार साधु षट् जिवनिकाय और महाव्रतों में (सभी प्रकार से रक्षा करने रूप) 'निवृत्ति'=नियम लेकर एक भी (काय या महाव्रत की) विराधना करने से 'अमर्त्य राजा'=जिनेश्वर भगवान की 'बोधि' आज्ञा का हनन करता है या परभव के लिए 'बोधि' जिन धर्म की प्रासि का हनन करता

है ।।४३२।।

तो हयबोही य पच्छा, कयावराहाणुसरिसमियममियं ।
पुण वि भवो अहिं पडिओ, भमइ जरामरणदुग्गम्मि।।४३३।।

इससे ऐसी बोधि का हनन करनेवाला पिछे से 'कय'=आज्ञानिरपेक्ष हृदय से सेवित अतिचारों के अनुरूप यह (ज्ञानिदृष्ट) 'अमित'=अनंत संसार समुद्र में पुनः गिरकर अति गहन जरा-मृत्यु के किल्ले में भटकता हो जाता है। [यह तो परलोक का अनर्थ बताया परंतु यहाँ पर भी—) ।।४३३।।

जइयाऽणेणं चत्तं, अप्पाणयं नाणदंसणचरित्तं ।
तइया तस्स परेसुं, अणुकंपा नत्थि जीवेसु ।।४३४।।

जब उसने (पुण्यशाली ने) स्वयं के ज्ञान, दर्शन, चारित्र को फेंक दिये तब ऐसा कहा जाता है कि उसे अन्य प्राणियों पर अनुकंपा नहीं है। [क्योंकि वैसे जीव अधर्म पायेंगे] ।।४३४।।

छक्कायरिऊण असंजयाण, लिंगावसेसमित्ताणं ।
बहुअस्संजमपवाहो, खारो मइलेइ सुट्ठुअरं ।।४३५।।

पृथ्वीकायादि षट् जीव निकाय के शत्रु भूत और असंयत् मन-वचन काया के यथेच्छक प्रवर्त्तक और इसीलिए ही रजो-हरण के धारक (वेशधारी) को अतीव असंयम का प्रवाह, उसके लिए पाप समूह लगता है और वह क्षार है। वस्त्रादि को वैसा क्षार जलाकर अतीव खराब कर देता है वैसे ।।४३५।।

किं लिंगविड्डरीधारणेण? कज्जम्मि अट्ठिए ठाणे ।
राया न होइ सयमेवधारयं चामराडोवे ।।४३६।।

जो रजोहरणादि साधुवेश धारणकर 'कार्ये'=संयम रूपी कार्य सिद्ध न होता हो तो वेश के 'वड्डर' आडंबर से क्या लाभ? (वह साधु ही नहीं है) वैसे अपने आप सिंहासन पर बैठकर चामर और छत्र ध्वज आदि का आडंबर धरने से राजा नहीं बना जाता। क्योंकि वहाँ राज्य संपत्ति भंडार, प्रजा, सेनादि परिवार का कार्य संपन्न नहीं होता। यह होता हो तो वह राजा माना जाता है वैसे संपूर्ण संयम पालन से साधु बना जाता है ।।४३६।।

जो सुत्तत्थविणिच्छिय-कयागमो मूलउत्तरगुणोहं ।
उव्वहइसयाऽखलियो, सो लिक्खइ साहुलिक्खम्मि ।।४३७।।

जो कोई सूत्र-अर्थ के (श्रुतसार-परमार्थ समजने के साथ निश्चय युक्त बनकर 'कृतागम'-आगम को आत्मसात करता है और 'मूलोत्तरगुणौघ' =महाव्रत और पिंडविशुद्धी आदि गुण समूह को 'उद्वहति' सम्यक् प्रकार से

जीवन पर्यंत् पालन करता है तथा सदा संयम में 'अस्खलित'=निरतिचार रहता है उस साधु को सच्चे साधु की गिनती में स्थान दिया जाता है। शेष तो ।।४३७।।

बहुदोससंकिलिट्ठो, नयरं मइलेइ चंचलसहावो ।
सुट्ठु वि वायामितो, कायं न करेइ किंचि गुणं ।।४३८।।

अज्ञान-क्रोध मदादि बहुत दोषों से चित्त की संक्लेशतावान तो विषयादि में भटकते स्वभाववान बनकर स्वात्मा को मलिन करने वाला होता है। वह काया से तपश्चर्यादि द्वारा अधिक कष्ट देनेवाला हो तो भी विचार पूर्वक वर्त्तक न होने से वह कष्टकारी क्रिया करते हुए भी स्वयं के आत्मा को कर्मक्षयादि लेश भी गुणवाला नहीं बनाता ।।४३८।।

केसिंचि वरं मरणं, जीवियमन्नेसिमुभयमन्नेसिं ।
दद्दुरदेविच्छाए, अहियं केसिंचि उभयं पि ।।४३९।।

कितनेक लोगों का मरना अच्छा है, कितने को का जीना अच्छा है तो दूसरों का जीना-मरना दोनों अच्छा है और कितनों का दोनों अहितकर है। इस दर्दुरांक देव ने चारों को कहे हुए शब्दों का भाव इस प्रकार है। (भगवान की यह प्ररूपणा है।)

देव ने मुझे मरो कहा—''क्योंकि अनंत सुखमय मोक्ष मेरी राह देख रहा है।''

श्रेणिक को 'जीवो' कहा क्योंकि मृत्यु के बाद नरक जाना है।

अभय को 'जीवो-मरो' कहा कि जीते हुए सुख है धर्म है, मरने के बाद स्वर्ग है।

काल सौकरिक को 'न जीवो' 'न मरो' कहा क्योंकि कसाई के कार्य में यहाँ भी वेदना है और मरने के बाद सातवीं नरक है ।।४३९।।

केसिंचि य परलोगो, अन्नेसिं इत्थ होइ इहलोगो ।
कस्स वि दुण्णि वि लोगा, दोऽवि हया कस्सई लोगा।।४४०।।

कितने ही लोगों को परलोक हितकर है तो दूसरों को यह जन्म हितकर है, किसी को यह लोक परलोक दोनों हितकर है तब किसी को दोनों भव स्वकर्म से नष्ट यानि अहितकर है ।।४४०।।

छज्जीयकायविरओ, कायकिलेसेहिं सुट्ठु गुरुएहिं ।
न हु तस्स इमो लोगो, हवइऽस्सेगो परो लोगो ।।४४१।।

पृथ्वीकायादि षट् जीवनिकाय जीवों का संहार के लिए 'विरत'=विशेष

आसक्त है। फिर वह चाहे पंचाग्नि तप मासखमण आदि 'सुट्ठुगुरु' बड़े-बड़े कष्टकारी हो वैसे अज्ञ तपस्वी को यह भव बिना विवेक से कष्ट सहन से दुःख रूप होकर सार्थक नहीं है परंतु ऐसों को यहाँ के अज्ञान कष्टोपार्जित तुच्छ पुण्य स्थान के कारण किंचित् सुखकर एक मात्र परभव है ।।४४१।।

नरयनिरुद्धमईणं, दंडियमाईण जीवियं सेयं ।
बहुवायम्मि वि देहे, विसुज्झमाणस्स वरमरणं ।।४४२।।

परभव में नरक पर केन्द्रित बुद्धिवाले राजा आदि का यहाँ जीना अच्छा है। और किसी को यहाँ अतीव असह्य 'अवाय'=अपाय-रोग-वेदना या 'वात'=वायु दर्द होते हुए भी प्रशस्त ध्यान से विशुद्धि के अध्यवसाय वाले को आगे सुंदर भव मिलने से मृत्यु अच्छा है ।।४४२।।

तवनियमसुट्ठियाणं, कल्लाणं जीविअं पि मरणं पि ।
जीवंति जइ गुणा अज्जिणंति सुगइं उविंति मया ।।४४३।।

तप-नियम, संयम के विशिष्ट गुणों से अच्छी प्रकार भावित बने हुए आत्माओं को यह जीवन भी कल्याण रूप हित रूप है और मरण भी हित कल्याण रूप है क्योंकि जीते हुए तपसंयमादि गुणों को बढ़ाता है और आयुष्य पूर्ण होने पर अच्छी गति में जाता है।

जीवन मरण दोनों में कहीं पर भी अहित नहीं होता ।।४४३।।

अहियं मरणं अहियं च, जीवियं पावकम्मकारीणं ।
तमसम्मि पडंति मया, वेरं वड्ढंति जीवंता ।।४४४।।

पापकर्म (चोरी आदि) करने वाले का मरण भी अहित रूप और जीवन भी अहित रूप है। क्योंकि मृत्यु के बाद नरक रूप अंधकार में गिरता है और जीतेजी वैर को-पाप को बढ़ाता है। दोनों समय अनर्थ, इससे समझकर विवेकी आत्मा मृत्यु आ जाय तो भी पाप न करें विवेक यह— ।।४४४।।

अवि इच्छंति अ मरणं, न य परपीडं करंति मणसाऽवि।
जे सुविइयसुगइपहा, सोयरियसुओ जहा सुलसो ।।४४५।।

[जिस विवेक में मोक्षगति के मार्ग को अच्छी प्रकार समझा है वे विवेकी जीव आवश्यकता पड़ने पर] वे मौत को पसंद करते हैं परंतु मन से भी दूसरों को पीड़ा करने का विचार नहीं करते जैसे कालसौकरिक कसाई का पुत्र सुलस ।।४४५।। अब अविवेक यह—

मूलग कुदंडगादामगाणिओ, चूलघंटिआओ य ।
पिंडेइ अपरितंतो, चउप्पया नत्थि य पसूवि ॥४४६॥

जैसे अविवेकी मानव पास में एक बकरी जैसा चोपगा पशु भी नहीं है फिर भी पशु को बांधने का खूंटा, चलाने की दंडी, नाथने की लगाम, गले में बांधने की घंटी आदि सामग्री सतत इकट्ठी करता है ॥४४६॥

तह वत्थपायदंडग-उवगरणे, जयणकज्जमुज्जुत्तो ।
जस्सऽट्ठाए किलिस्सइ, तं चिय मूढो न वि करेइ ॥४४७॥

उसी प्रकार मूढ़ जयणा के कार्य के लिए सज्ज वस्त्र, पात्र, दंडादि उपकरण सतत इकट्ठा करता है परंतु इकट्ठे करने का क्लेश जिसके लिए करता है वह संयम रक्षा, संयम यतना ही वह नहीं करता। (तो फिर ऐसों को तीर्थंकर परमात्मा क्यों नहीं रोकते?) ॥४४७॥

अरिहंतो भगवंतो, अहियं य हियं य नवि इहं किंचि ।
वारंति कारयेंति य, घित्तूण जणं बला हत्थे ॥४४८॥

अरिहंत भगवंत भी मानव को बलात्कार से हाथ पकड़कर किंचित् मात्र भी अहित से नहीं रोकते या हित नहीं करवाते। (वा शब्द से उपेक्षणीय पदार्थ की उपेक्षा करवाते नहीं) ॥४४८॥

उवएसं पुण तं दिंति, जेण चरिएण कित्तिनिलयाणं ।
देवाणऽवि हुंति पहू, किमंगपुण मणुअमित्ताणं ॥४४९॥

फिर भी भगवंत ऐसा उपदेश देते हैं कि जिसकी आचरणाकर वह कीर्ति के आश्रयभूत देवताओं का भी स्वामी बनता है, तो फिर मनुष्य मात्र का राजा बनें उसमें तो पूछना ही क्या? ॥४४९॥

वरमउडकिरीडधरो, चिंचइओ चवलकुंडलाहरणो ।
सक्को हिओवएसा, एरावणवाहणो, जाओ ॥४५०॥

(हितोपदेश अवश्य सर्व कल्याण साधक है जैसे कार्तिक शेठ—) हितोपदेश आचरणा में लाने से उच्चरत्नमय श्रेष्ठ अग्रभाव से शोभित मुकुट को धारण करने वाला बाजुबंधादि से शोभित 'चपल'=तेज प्रसारक कुंडल के आभूषण युक्त और एरावण हाथी के वाहन युक्त शक्रेन्द्र बना ॥४५०॥

रयणुज्जलाइँ जाइं, बत्तीसविमाणसयसहस्साइं ।
वज्जहरेण वराइं, हिओवएसेण लद्धाइं ॥४५१॥

इस वज्रधर इन्द्र ने जो इन्द्रनिलादि रत्नों से चमकते ३२ लाख श्रेष्ठ विमानों का आधिपत्य प्राप्त किया वह हितोपदेश के आचरण से ही ॥४५१॥

सुरवइसमं विभूइं, जं पत्तो भरहचक्कवट्टी वि ।
माणुसलोगस्स पहू, तं जाण हिओवएसेण ॥४५२॥

मनुष्यलोक के छ खंड के स्वामी भरतचक्री ने भी इन्द्र जैसी समृद्धि प्राप्त की वह भी हितोपदेश आचरने के प्रभाव से ही हुआ ऐसा समझ। यह प्राप्ति कराने का सामर्थ्य हितोपदेश का ही है अतः कर्तव्य क्या? तो कहा— ॥४५२॥

लद्धूण तं सुइसुहं, जिणवयणुवएस-ममयबिंदुसमं ।
अप्पहियं कायव्वं, अहिएसु मणं न दायव्वं ॥४५३॥

श्रोतेन्द्रिय को सुखद अमृतबिन्दु समान श्री जिनवचनोपदेश प्राप्तकर आत्म हित करने की इच्छा वाले को जिनवचनानुसार वर्तन करना चाहिए और जिन वचन से निषिद्ध हिंसादि अहितकर में मन भी नहीं ले जाना चाहिए तो फिर वचन काया को ले जाने की बात ही कहाँ? ॥४५३॥

हियमप्पणो करिंतो, कस्स न होइ गरुओ गुरू गण्णो? ।
अहियं समायरंतो, कस्स न विप्पच्चओ होइ? ॥४५४॥

जिनवचनानुसार आत्मा के हित के लिए आचरण करनेवाला किसका 'गरुओ गुरु' प्रधान आचार्य समान और 'गण्य'=सर्व कार्य में पूछने लायक नहीं होता क्या? अर्थात् सर्व में गण्य मान्य बड़ा गुरु बनता है तब अहित की आचरणा करने वाला किसको अविश्वसनीय नहीं होता? होता ही है। यहाँ कोई यह माने कि हम हिताचरण के योग्य नहीं है हम किस प्रकार हित साधन करें! तो यह कहना बराबर नहीं है क्योंकि अयोग्यता की कोई जन्म सिद्ध खान नहीं है किन्तु जिसमें गुण होते हैं वे पूज्य बनते हैं और गुण प्रयत्न साध्य है अतः गुण हेतु प्रयत्न करना चाहिए ॥४५४॥

जो नियमसीलतवसंजमेहिं, जुत्तो करेइ अप्पहियं ।
सो देवयं व पुज्जो, सीसे सिद्धत्थओ व्व जणे ॥४५५॥

व्रत-नियम, शील, तप, संयम से युक्त बनकर जो आत्महित साधता है वह देव सदृश्य पूज्य बनता है (मांगलिक) सरसव सम मस्तक पर चढ़ता है अर्थात् उसकी आज्ञा शिरोधार्य बनती है ॥४५५॥

सव्वो गुणेहिं गण्णो, गुणाहिअस्स जह लोगवीरस्स ।
संभंतमउडविडवो, सहस्सनयणो सययमेइ ॥४५६॥

सभी ज्ञानादि गुणों से माननीय -पूजनीय बनता है। जैसे उत्कट (सत्त्वादि) गुणों से लोक में (कर्म शत्रु को मारकर हटाने वाले) वीर रूप में

प्रसिद्ध (महावीर भगवान) के पास (अतीव भक्तिवश) संभ्रम से हिले हुए मुगटाग्र वाले शक्रेन्द्र सतत वंदनार्थ आते रहते थे ।।४५६।। (गुणहीन को उससे विपरीत—)

चोरिक्कवंचणाकूडकवड-परदारदारुणमइस्स ।
तस्स च्चिय तं अहियं, पुणोऽवि वेरं जणो वहइ ।।४५७।।

चोर, ठग, कटुवचन, माया (मानसिक शठता) और परस्त्री में 'दारुण'=पापिष्ठ बुद्धिवाले को उसका स्वयं का आचरण यहाँ अहितकर होता है और फिर परलोक में लोग उस पर 'वैर'=गुस्से का अध्यवसाय वहन करते हैं यह पापिष्ठ है इसका मुँह देखने लायक नहीं है ऐसे आक्रोश वचन बोलते हैं ।।४५७।।

जइ ता तणकंचणलिट्ठु-रयणसरिसोवमो जणो जाओ ।
तइया नणु वुच्छिन्नो, अहिलासो दव्वहरणम्मि ।।४५८।।

तब जो बुद्धिमान मानव तृण (घास), कंचन, मिट्टी का ढेफा, रत्न राशि इन सबके प्रति निस्पृहता से समान बुद्धिवाला बन जाय तो निश्चित है कि उसकी परद्रव्य हरण की इच्छा ही खतम हो जाय। यह विचारकर सन्मार्ग में चलना। इसमें स्खलना होने से बड़ों की भी वास्तविकता से किंमत उड़ जाती है ।।४५८।।

आजीवगगणनेया, रज्जसिरिं पयहिऊण य जमाली ।
हियमप्पणो करिंतो, न य वयणिज्जे इह पडंतो ।।४५९।।

'द्रव्यलिंग'=साधुवेश मात्र से लोक पर आधार रखकर जीवन निर्वाह करने वाले 'आजीवक'=निह्नवों के समूह का नेता जमालि राज्य संपत्ति छोड़कर आया हुआ (और आगम पढ़ा हुआ उसने जो 'कडेमाणे कडे' इस जिनवचन का जो अपलाप यानि निह्नवता न की होती और स्वयं के आत्मा का हित सुरक्षित किया होता तो इसी भव में निंदनीय न बनना पड़ता। यह निह्नव है ऐसा न कहते। दुष्कर तप संयम करते हुए भी हित भूल जाने से छट्ठे देवलोक में भंगी के जैसा किल्बिषिक देवपना प्राप्त न करता ।।४५९।।

इंदियकसायगारवमएहिं, सययं किलिट्ठपरिणामो ।
कम्मघणमहाजालं, अणुसमयं बंधई जीवो ।।४६०।।

इंद्रियों, कषायों, गारवों और मद द्वारा सतत संक्लिष्ट परिणाम अध्यवसायवान जीव प्रति समय कर्म रूपी मेघ के महा समूह को बांधता है। (आत्म प्रदेश के साथ एकमेक करता है। कर्म यह जीव रूपी चंद्र को आवरण

करता है। अतः कर्म यह मेघ-बादल जैसा है। इंद्रियादि से वास्तविक सुख नहीं है। विषयसुख दुःख-प्रतिकार रूप होने से खाज खनने जैसा है परंतु महा अरति निवारण के कारण जीव को सुख का भ्रम होता है उससे अविवेकी जीव ऐसे सुख को बढ़ाना चाहता है ।।४६०।।

परपरिवायविसाला, अणेगकंदप्पविसयभोगेहिं
संसाररत्था जीवा, अरइविणोअं करंतेवं ।।४६१।।

दूसरे के अवर्णवाद में विशेष प्रवर्त्त संसारी जीव अनेक प्रकार के कंदर्प-परिहास वचन, हास्य वचन बोलकर शब्दादि विषयों का उपभोगकर मूढ़ता से अरति को हटाने का ही करते हैं परंतु अरति हटती नहीं परंतु वह अरति बार-बार जागृत होती रहती है। यहाँ पर निंदा यह द्वेष का कार्य, विषय-भोग यह राग का कार्य और सकर्मकता यह रागद्वेष का कार्य दर्शाया. विषय-भोग के अभ्यास से इंद्रियों में कुशलता रहती हैं ऐसा आभास होता है परंतु अरति-तृष्णादि आत्म रोगों की वृद्धि होती है ।।४६१।।

आरंभपायनिरया, लोइयरिसिणो तहा कुलिंगी य ।
दुहओ चुक्का नवरं, जीवंति दरिद्दजियलोयं ।।४६२।।

और मूढ़ता कैसी कि आरंभ-स्नानादि में जीव हिंसा और पाक-धान्यादि से यज्ञ के चरु आदि का निर्माण या रसोइ इन दोनों में आसक्त लौकिक ऋषि स्वबुद्धि से मायारहित तापस और 'कुलिंगी'=मायावी बौद्ध साधु आदि गृहस्थपना और साधुपना दोनों से रहित बिचारे जीते हैं वे दारिद्र्य जीवलोक-दरिद्रता के समान दैन्यवृत्ति से जीविका चलाने वाले होते हैं (साधुवेष में गृहस्थ जैसी चेष्टा के लक्षण से गृहस्थपना नहीं, हिंसादि में प्रवृत्त होने से साधुपना भी नहीं) ।।४६२।।

सव्वो न हिंसियव्वो, जह महीपालो तहा उदयपालो ।
न य अभयदाणवइणा, जणोवमाणेण होयव्वं ।।४६३।।

तब मोह मुक्त जीव यह देखते हैं कि किसी जीव की हिंसा न करनी, किन्तु महीपाल-राजा वैसे ही उदकपाल रंक दोनों समान गिनने योग्य है अपमान-तिरस्कार के योग्य नहीं है। अभयदान के स्वामी को अभयदानव्रती को सामान्य जन के जैसा नहीं होना चाहिए। [अविवेकी लौकिक धर्मवाले कहते है कि ''अग्निलगाने वाला, झहर देनेवाला, शस्त्र चलानेवाला, धनचोर, पुत्रचोर और स्त्रीचोर इन छ आततायीयों को और वेदान्त पारगामी की हत्या करने वाले को मार डालने चाहिए। उसमें पाप नहीं है। जो ऐसा कहते है कि

पीड़ा करनेवालों को पीड़ा नहीं करनी वे तो बायले डरपोक हैं'' ऐसे अविवेकी लोकों के जैसा नहीं बनना। अहिंसक बनें रहना।] ।।४६३।।

पाविज्जइ इह वसणं, जणेण तं छगलओ असत्तु त्ति ।
न य कोइ सोणियबलिं, करेइ वग्घेण देवाणं ।।४६४।।

इह-जगत में अविवेकी मानव द्वारा निर्बल को ही दुःख पहुँचाया जाता है जैसे बकरा अशक्त है अतः उसकी बली देकर दुःख पहुँचाया जाता है। मेले देवों के सामने कोई बाघ की बली नहीं देता। अतः हे साधु! तूं वैसा न होकर तेरी हीलना करने वाले तिरस्कार करने वाले निर्बल को भी क्षमा करना। क्रोध या सामना न करना। क्योंकि यह मानव मात्र इस लोक का अपकारी है। परलोक-दीर्घकाल का है. यहाँ कितना जीना है! ।।४६४।।

वच्चइ खणेण जीवो, पित्तानिलधाउसिंभखोभम्मि ।
उज्जमह मा विसीअह, तरतमजोगो इमो दुलहो ।।४६५।।

जीव पित्त-वायु-(रस रुधिरादि धातु के कफ के प्रकोप से क्षणभर में (परलोक) चला जाता है। (इसीलिए हे शिष्यो!) उद्यम करें, (सदनुष्ठानो में) विषाद-कंटाला-शिथिलता ये न करें; क्योंकि 'तरतमजोगो'=एक-एक से उत्तम ये (अब कहेंगे वे) धर्म का साधन-सामग्री का योग दुष्प्राप्य है। (ये जो दुलर्भ पदार्थ अब मिले है, तो प्रमाद करना उचित नहीं।) ।।४६५।।

पंचिंदियत्तणं माणुसत्तणं, आरिए जणे सुकुलं ।
साहुसमागम सुणणा, सद्दहणाऽरोग पव्वज्जा ।।४६६।।

ये धर्म साधन पंचेन्द्रियपना, मनुष्य जन्म, आर्यदेश में जन्म, उसमें भी धर्मयोग कुल, सद्गुरु साधु समागम, धर्मशास्त्रों का श्रवण, श्रवण पर श्रद्धा यह ऐसा ही है ऐसी तत्त्वप्रतीति, तत्त्व पर दृढ़ श्रद्धा, नीरोगीपन, संयमभारवहन करने का सामर्थ्य और प्रव्रज्या-सद्विवेक पूर्वक सर्वसंग के त्यागरूप भागवती दीक्षा [ये सभी तरतम योग यानि उत्तरोत्तर उत्तम और अति दुर्लभ धर्म के निमित्त कारण है। ऐसा उपदेश सुनते हुए भी वर्तमान सुख में लुब्ध-दुर्बुद्धि मानव जो धर्म नहीं करता वह कैसा पश्चात्ताप करता है वह कहते हैं—] ।।४६६।।

आउं संविल्लंतो, सिढिलंतो बंधणाइं सव्वाइँ ।
देहट्ठिइं मुयंतो, झायइ कलुणं बहुं जीवो ।।४६७।।

पित्तादि के प्रकोप से उपक्रम पास में होने से आयुष्य पर उपघात होने से, सभी अंगोपांग के सांधे शिथिल करते हुए और देह की स्थिति को

च शब्द से पुत्र धन परिवारादि को छोड़ते हुए वह विवेकीयों को दया उत्पन्न हो ऐसा करुणापूर्ण चिंतन करता है कि—[अरे रे मैं हीनभागी ने शीघ्र मोक्ष दे ऐसे महान् जिनशासन को पाने पर भी विषयलंपटता से सतत महा दुःखदायी संसार के कारण भूत आरंभ विषय परिग्रह का ही सेवन किया तो हाय! परभव में मुझे साथ किसका?] ।।४६७।।

इक्कं पि नत्थि जं सुट्ठु, सुचरियं जह इमं बलं मज्झ।
को नाम दढक्कारो, मरणंते मंदपुण्णस्स ।।४६८।।युग्मम्।।

हाय! ऐसा मेरा एक भी 'सुष्ठु सुचरितं' अच्छी प्रकार से आचरित सुकृत नहीं है कि जिससे मेरे पास सद्गति में जाने का वैसा सामर्थ्य हो तो (जीवन में अच्छे सुकृतों की सामग्री हार जाने से यानि जन्म निष्फल करने से) मरण के समय मंदभागी मुझे दृढ़ आलंबन किसका? [इस प्रकार वह करुण रूदन करता है] ।।४६८।।

सूल-विस-अहि-विसूइय, पाणिय-सत्थ-ग्गि-संभमेहिं च।
देहंतरसंकमणं, करेइ जीवो मुहुत्तेणं ।।४६९।।

(केवल पित्तादि के प्रकोप से ही आयुष्य क्षय नहीं, परंतु) शूल, विष, सर्प, 'विसुइ'=विसुचिका, झाडे-उलटी। पानी का पूर, शस्त्र, आग, और संभ्रम (अतिमय आदि के आघात से 'मुहुत्तेण'=अति अल्प काल में जींव (यह शरीर छोड़कर दूसरे देह में संक्रमण गमन करता है। अंत में ऐसी चिंता और शोक धर्म नहीं करने वाले को होता है। किन्तु ।।४६९।।

कत्तो चिंता सुचरिय-तवस्स, गुणसुट्ठियस्स साहुस्स?।
सोग्गइ-गम-पडिहत्थो, जो अच्छइ नियम-भरियभरो।।४७०।।

जिसने सुंदर प्रकार से अनशनादि द्वादश भेदे तप किया हो, जो संयमगुण में सुस्थिर है, ऐसे साधु को (मोक्ष साधक को) चिंता कहाँ से हो? क्योंकि वह नियमादि द्रव्यों से अभिग्रह रूप माल से भरे हुए शकट वाला (गाड़ावाला) है और उसीसे ही 'सोग्गइ-गम-पडिहत्थो' स्वर्ग मोक्ष गमन रूप सुगति गमन में दक्ष चतुर है। (अर्थात् ऐसे साधु को जीवन के अंत में चिंता शोक करने का अवसर ही नहीं आता) ।।४७०।।

साहंति य फुडवियडं, मासाहस-सउण-सरिसया जीवा ।
न य कम्मभार-गरुयत्तणेण तं आयरंति तहा ।।४७१।।

लघुकर्मी आत्मार्थी इस प्रकार आराधना करता है परंतु मानाकांक्षी 'मा साहस' पक्षी जैसे जीव दूसरों को स्फूट-स्पष्टरूप से 'विकटं'=विस्तार से

उपदेश देते हैं परंतु कर्म के भार से भारीपने के कारण उस उपदेशित कर्तव्य को उस प्रकार स्वयं आचरते नहीं ।।४७१।।

वग्घमुहम्मि अहिगओ, मंसं दंतंतराउ कड्ढय ।
मा साहसं ति जंपइ, करेइ न य तं जहाभणियं।।४७२।।

मा साहस पक्षी का दृष्टांत इस प्रकार खा पी के मुँह फाड़े सोये हुए व्याघ्र के मुँह में प्रवेश किया हुआ पंखी उस बाघ के दांत के आंतरों में से मांस के कणों को खींचकर खाता है और दूसरे पक्षियों को मा साहस (साहस न करो) ऐसा कहता है फिर भी स्वयं बोले हुए के अनुसार आचरण नहीं करता ।।४७२।।

परिअट्टिऊण गंथत्थ-वित्थरं निहसिऊण परमत्थं ।
तं तह करेइ जह तं, न होइ सव्वं पि नडपढियं।।४७३।।

मा साहस पक्षी के समान सूत्र, अर्थ का विस्तार अनेक बार पुनरावर्तन से अच्छी प्रकार से अभ्यस्तकर, और मात्र अक्षर पाठ नहीं परंतु स्वर्ण को कसोटी पर कसने के समान परमार्थ सार को खिंचकर भी यानि सार प्राप्तकर भी भारे कर्मीपने के कारण वर्तन इस प्रकार करे कि वे लघुता पाते हैं और परलोक में अनर्थ के भागी बनते हैं। जैसे नट का भाषण=वह इस प्रकार— ।।४७३।।

पढइ नडो वेरग्गं, निव्विज्जिज्जा य बहु जणो जेण ।
पढिऊण तं तह सढो, जालेण जलं समोअरइ ।।४७४।।

नाटक करनेवाला स्पष्ट रूप से विराग के वचन बोलता है जिससे अनेक लोक संसार से उबक जावे परंतु शठ वह ऐसे ही अभिनय-हावभाव बताकर वैराग्य की बातें कर अनेकों को असर हो जाय ऐसी धर्मकथा करता है। वैसे ही केवल वेषधारी शठ आत्मा माछीमार समान माछले पकड़ने की जाल पानी में उतारता है वैसे धर्म कथा रूपी जाल से भोले जीवों को आकर्षित कर उनके पास से आहार वस्त्रादि प्राप्त करता है परंतु स्वयं सुखशीलिया बनकर संयमादि की आराधना नहीं करता ।।४७४।।

कह कह करेमि, कह मा करेमि, कह कह कयं बहुकयं मे ।
जो हिययसंपसारं, करेइ सो अइकरेइ हियं ।।४७५।।

अतः विवेक से प्रतिक्षण ऐसा विचारना कि हितकर अनुष्ठान मैं किस प्रकार अतिशय आदर पूर्वक करूं? अहितकर में कैसे न फंसुं? किस-

किस प्रकार किया हुआ कार्य बहुत गुणकारी हो? जो बुद्धिमान साधक हृदय में ऐसी विचारणा करता है वह आत्महित को 'अइकरेइ' अतिवेग से साधता है अतिशय आदर से करता है इसीलिए कहा कि— ।।४७५।।

सिढिलो अणायरकओ, अवसवसकओ तह कयावकओ ।
सययं पमत्तसीलस्स, संजमो केरिसो होज्जा? ।।४७६।।

सतत प्रमादशील विषयेच्छा वाले का संयम शिथिल अतिचार से खरंटित होगा क्योंकि अयतना अनादर से किया जाता है और कहीं-कहीं यतना भी दूसरों के भय से की जाती है 'अवसवसकओ' गुर्वादि प्रति परवशता पूर्वक आचरणा की जाती हो किंतु आत्म-धर्म-श्रद्धा से नहीं और कभी संपूर्ण आराधना मय, कभी संपूर्ण अविचारीपने के कारण संपूर्ण विराधना मय होने से 'कृत-अपकृत'=आराध्य विराध्य जैसा होता है। यह संयम कैसा होगा? (कुछ भी मूल्य बिना का) ।।४७६।।

चंदु व्व कालपक्खे, परिहाइ पए पए पमायपरो ।
तह उग्घरविघरनिरंगणो य ण य इच्छियं लहइ ।।४७७।।

पग-पग पर प्रमाद तत्पर साधु कृष्ण पक्ष के चंद्र समान गुणों की अपेक्षा से क्षीण होता जाता है। और गृहस्थपने का घर तो गया परंतु साधुपने का विशिष्ट स्थान भी न मिले वैसे अंगना भी गयी (अर्थात् संक्लिष्ट अध्यवसाय से प्रतिक्षण पाप बांधता है और घर गृहिणी आदि साधन न होने से इच्छित विषम सुख भी नहीं मिलता ।।४७७।।

भीओव्विग्गनिलुक्को, पागडपच्छन्नदोससयकारी ।
अप्पच्चयं जणंतो, जणस्स धी जीवियं जियइ ।।४७८।।

और ऐसा प्रमादी जीव कौन मुझे क्या कहेगा? इस प्रकार भयभीत रहता है (कहीं भी धैर्य-स्थैर्य न होने से उद्विग्न रहता है वैसे ही (संघपुरुष आदि के भय से) 'निलुक्कको'=छुपकर रहता है क्योंकि वह प्रकट और प्रछन्न (गुप्त) शताधिक दोषों का सेवन करने वाला होता है। इसके लिए ही ऐसा जीव लोगों में, **इनका धर्म इनके शास्त्रकारों ने ऐसा ही बताया होगा ऐसी बुद्धि उत्पन्न करवाकर लोगों को धर्म पर अविश्वास उत्पन्न करवाने वाला बनकर धिक्कारपात्र जिंदगी जीता है** (अतः निरतिचार संयम पालन करना ही श्रेयकारी है) ।।४७८।।

न तहिं दिवसा पक्खा, मासा वरिसा वि संगणिज्जंति।
जे मूलउत्तरगुणा, अक्खलिया ते गणिज्जंति ॥४७९॥

चाहे सातिचार परंतु मेरा लंबा दीर्घ चारित्र पर्याय होने से इष्टसिद्धि होगी-ऐसा नहीं मानना, क्योंकि तहिं-धर्म के विचार में और इष्टसिद्धि में जो दिन, पक्ष, मास और वर्ष भी केवल अच्छी संख्या में व्यतीत हो उतने मात्र से वे गीनती में नहीं आते किन्तु अस्खलित निरतिचार मूलगुण उत्तर गुण की आराधना युक्त व्यतीत हो वे ही गिनती में आते हैं क्योंकि वे ही इष्ट साधक है मात्र चिर दीक्षितता नहीं किन्तु निरतिचारता इष्ट साधक बनती है और वह अत्यंत अप्रमादी को होती है क्योंकि— ॥४७९॥

जो नवि दिणे दिणे संकलेइ, के अज्ज अज्जिया मि गुणा?।
अगुणेसु अ न हु खलिओ, कह सो उ करेइ अप्पहियं? ॥४८०॥

जो दिन-प्रतिदिन और पण शब्द से रात को भी संकलना नहीं करता (सम्यग् बुद्धि से तपासकर अंदाज नहीं निकालता) कि आज कौन से ज्ञानादि गुण मैंने अर्जित किये? और कौन से दोषों में (मिथ्यात्वादि) स्खलित पतित न हुआ? कितने अतिचार से बचा? वह आत्मा स्वात्महित क्या साधेगा? (क्योंकि संकलना-विचारणा नहीं करनेवाला सुसंस्कार शून्य है। साधना के विचारों से सुसंस्कार उत्पन्न होते है, वृद्धि को पाते हैं ॥४८०॥

इय गणियं इय तुलिअं, इय बहुहा दरिसियं नियमियं च ।
जह तह वि न पडिबुज्झइ, किं कीरइ? नूण भवियव्वं ॥४८१॥

इस प्रकार (संवच्छरमुसभजिणो' गाथा से भगवान के वार्षिकतप आदि सद्अनुष्ठानों की गिनतीकर, अवंती सुकुमाल के दृष्टान्तादि से तुलनाकर, आर्यमहागिरि आदि के दृष्टान्तों से अनेक प्रकार के सद्अनुष्ठान बताये और च शब्द से अन्वय-व्यतिरेक से समिति-कषायादि की तथा गोचरी के ४२ दोषों का त्याग आदि की गाथाओं से यह आराधना मार्ग यह विराधना मार्ग है ऐसा नियंत्रण-नियमन सूचित किया। तो भी जो प्रेम आदर से कहने पर भी जीव प्रतिबोधित न हो, क्योंकि भारे कर्मी जीव तत्त्वदर्शी नहीं बन सकता तो विशेष अधिक क्या किया जाय? निश्चय से ऐसे भोगी जीवों का संसार अभी तक अनंतकाल होना चाहिए ॥४८१॥

किमगं तु पुणो जेणं, संजमसेढी सिढिलिकया होइ ।
सो तं चिय पडिवज्जइ, दुक्खं पच्छा उ उज्जमइ॥४८२॥

'किमगं'=किमंग प्राकृत होने से अनुस्वार विपर्यास उससे अगं के

स्थान पर अंगा पद लेना ए आमंत्रण के लिए हे शिष्यो! जो पुण्यशाली संयम श्रेणि (गुण स्थानक श्रेणि प्राप्त करके भी) को शिथिल करने का करता है उस प्रति अनादर करता है तो गुण प्राप्त न करने वाले से वह अधिक अधम है क्योंकि बाद में भी वह उस शिथिलता से पीछे हट नहीं सकने से वह जो शिथिलता अपनाता है उसको हटाने के लिए उद्यम करना उसके लिए अति मुश्किल होता है। क्योंकि महामोह की वृद्धि हो गयी है ।।४८२।।

जइ सव्वं उवलद्धं, जइ अप्पा भाविओ उवसमेण ।
कायं वायं च मणं, उप्पहेणं जह न देई ।।४८३।।

लघुकर्मी उपदेश योग्य होने से उसको उद्देशकर कहते हैं—जो तुमको पूर्वोक्त और अन्य शास्त्रोक्त कथन सभी अच्छी प्रकार से समझ में आ गया हो और तुम्हारे आत्मा को उपशम यानि रागादि पर विजय से भावित किया हो तो भावी दोष के निरोध और पूर्वदोष के क्षय के लिए काया, वाणीं और मन को ऐसे शुभ में प्रवृत्त करो कि जिससे तुम उसे उन्मार्ग में प्रवर्त्तने का समय ही न दो। अर्थात् मन, वचन, काया के योग उन्मार्ग में न प्रवंर्ते इस प्रकार वर्तन करना ।।४८३।।

हत्थे पाए न खिवे, कायं चालिज्ज तं पि कज्जेण ।
कुम्मो व्व सए अंगम्मि अंगुवंगाइं गोविज्जा ।।४८४।।

काय योग के नियंत्रण में—हाथ पैर को निष्प्रयोजन नहीं चलाने, काया की प्रवृत्ति भी जैसे-तैसे नहीं परंतु ज्ञानादि प्रयोजन से हो। शेष में तो काचबे के जैसे स्वयं के हाथ आंख आदि अंगोपांगों को स्वयं के शरीर में ही गोपन कर रखें। यानि सहजभावे है वैसे रखे ।।४८४।।

विकहं विणोयभासं, अंतरभासं अवक्कभासं च ।
जं जस्स अणिट्ठमपुच्छिओ, य भासं न भासिज्जा ।।४८५।।

वचन योग नियंत्रण में—देशकथादि विकथा का एक अक्षर भी बोलना नहीं (ज्ञानादि प्रयोजन बिना मात्र समय पसार करने के लिए विनोद वचन न बोलना, गुरु बोलते हैं तब बीच में न बोलना, जकार, मकार अरे आदि अवाक्य-अवचनीय शब्द न बोलना। वैसे ही जिस किसी को जो अप्रिय लगे वह न बोलना। बिना पूछे वाचालता से न बोलना ।।४८५।।

अणवट्ठियं मणो जस्स, झायइ बहुयाइं अट्टमट्टाइं ।
तं चिंतिअं च न लहइ, संचिणइ अ पायकम्माइं ।।४८६।।

मनोयोग-नियंत्रण में जिसका मन चंचल है वह पाप संबंधी अनेक

प्रकार के आहट्ट-दोहट्ट विचार करता है और वह बेचारा बना हुआ स्वयं के पसंदानुसार उसे कुछ मिलता भी नहीं और उसकी इच्छानुसार कुछ होता भी नहीं और विपरीत निरर्थक प्रतिक्षण नरकादि योग्य अशातावेदनीयादि पापकर्म भरपूर बांधता है अतः स्थिर शुद्ध मन बनाकर ऐसे आहट्ट-दोहट्ट विचार बंध करना ।।४८६।।

जह जह सव्वुयलद्धं, जह जह सुचिरं तवोवणे वुच्छं ।
तह तह कम्मभरगुरु, संजमनिब्बाहिरो जाओ ।।४८७।।

भारे कर्मी की ऊल्टी चाल कैसी? तो कहा कि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से आगम की बातें जैसे-जैसे जानता गया और जैसे-जैसे अच्छा दीर्घकाल तपोवन-साधु समुदाय में रहता गया वैसे-वैसे मिथ्यात्वादि कर्म के थोक से भारी होता गया और संयम-आगंमोक्त आचरण से बाह्य-दूर होता गया ।।४८७।।

विज्जप्पो जह जह ओसहाइं, पिज्जेइ वायहरणाइं ।
तह तह से अहिययरं, वाएणाऊरियं पुट्टं ।।४८८।।

विजप्पो आप्त विश्वसनीय वैद्य जैसे-जैसे स्वयं के भान रहित कुपथ्यसेवी रोगी को वायु नाशक सूंठ आदि औषध दे वैसे-वैसे उस दरदी का पेट पूर्व से भी अधिक वायु से भरा जाता है। इस प्रकार भगवान जिनवचन रूपी भाववैद्य के पास से आत्मभान बिना का अनेक प्रकार से पापीष्ठ साधु रोगी जैसे-जैसे कर्मरोगहर आगमपद रूपी औषध पीया करता है, वैसे-वैसे उसका चित्त रूपी पेट-वायु से अधिकाधिक भरता जाता है अर्थात् पापी साधु जैसे-जैसे शास्त्र पढ़ता जाय, तप करता जाय वैसे-वैसे वह अधिक से अधिक मोह में असंयम की प्रवृत्ति में फंस जाता है ।।४८८।।

दड्ढजउमकज्जकरं, भिन्नं संखं न होइ पुण करणं ।
लोहं च तंबविद्धं, न एइ परिकम्मणं किंचि ।।४८९।।

जिनवचन-वैद्य के उपचार से भी असाध्य वह असाध्य ही है जैसे जल गयी लाख काम में नहीं आती, फूटा हुआ शंख सांधा नहीं जाता, ताम्र से वींधा हुआ लोहा अब किसीभी प्रकार से परिकर्म-सुधार (पूर्वावस्था) को प्राप्त नहीं हो सकता वैसे ही वह पापी साधु पुनः संयम प्रापक चिकित्सा के अयोग्य बनता है ।।४८९।।

को दाही उवएसं, चरणालसयाण दुव्विअड्ढाण? ।
इंदस्स देवलोगो, न कहिज्जइ जाणमाणस्स ।।४९०।।

चारित्र में प्रमादी और शास्त्र के अर्थों को इधर-उधर के वाक्यों को विपरीत रूप से लगानेवाला पंडितमानी को सत्यतत्त्व का उपदेश कौन देगा? देवलोक को नजर समक्ष देखने वाले के आगे कोई देवलोक का वर्णन नहीं करता। करे तो इन्द्र से उपहास्य बने इंद्र की दृष्टि में वह तुच्छ दिखता है वैसे **स्वयं की जात को ज्ञानकार मानकर बैठा हुआ उसे तत्त्वबोध देने वाले की वह हाँसी करता है।** अर्थात् **तत्त्वोपदेशक को तुच्छ गिनता है।** वास्तव में तो ऐसे प्रबलमोह निद्रा से घिरे हुए होने से अन्यान्य उन्मार्ग प्रवृत्ति करने वाले होने से वास्तव में आगम के जानकार ही नहीं है ।।४९०।।

दो चेव जिणवरेहिं, जाइजरामरणविप्पमुक्केहिं ।
लोगम्मि पहा भणिया, सुस्समण सुसावगो वाऽवि ।।४९१।।

संयम से दूर रहे हुए लोगों का वर्तन उन्मार्ग कैसे? तो कहा कि:- जन्म-जरा और मृत्यु से अत्यंत मुक्त जिनेश्वर परमात्मा ने जगत में (आत्म कल्याण के) दो ही मार्ग बताये हैं। एक सुसाधु होना न हो सके तो दूसरा सुश्रावक बनना (संविग्न पाक्षिक का तीसरा मार्ग सन्मार्ग का पक्षपाती होने से इन दो मार्ग में ही समावेश हो जाता है। इन दो मार्ग को ही दूसरे शब्दों में भावार्चन-द्रव्यार्चन/भावस्तव-द्रव्यस्तव कहा गया है) ।।४९१।।

भावच्चणमुग्गविहारया य, दव्वच्चणं तु जिणपूआ ।
भावच्चणाउ भट्ठो, हविज्ज दव्वच्चणुज्जुत्तो ।।४९२।।

'भावार्चन'=भगवान की तात्त्विक पूजा उग्र विहारी पना ही है [उग्रविहारी अर्थात् उत्कृष्ट चारित्र पालन है लंबे-लंबे विहार नहीं] द्रव्यार्चन-भावपूजा की अपेक्षा से गौण पूजा पुष्पादि से जिन बिंब की पूजा है। भावार्चन से भ्रष्ट बना हुआ अर्थात् वैसी शक्ति के अभाव में वैसा पालन करने की शक्ति न होने से द्रव्यार्चन के लिए उद्यमी बनें। (क्योंकि द्रव्य पूजा भी पुण्यानुबंधी पुण्य का कारण होकर परंपरा से भाव पूजा का कारण बनती है) ।।४९२।।

जो पुण निरच्चणो च्चिअ, सरीरसुहकज्जमित्ततल्लिच्छो ।
तस्स न हि बोहिलाभो, न सुग्गई नेय परलोगो।।४९३।।

तब जो निरच्चणो-द्रव्य-भाव अर्चन से अर्थात् चरण करण और सम्यग् जिनपूजा से रहित होता है उसे तो एक मात्र शरीर सुख के कार्यों में ही गाढ़ लंपटता होती है परभव में ऐसे को बोधिलाभ जैन-धर्म की प्राप्ति का

लाभ होता नहीं वैसे सुगति-मोक्ष भी नहीं होता और परलोक में सुदेवत्वादि नहीं मिलते ।।४९३।।

कंचणमणिसोवाणं, थंभसहस्सुसिअं सुवण्णतलं ।
जो कारिज्ज जिणहरं, तओऽवि तवसंजमो अहिओ ।।४९४।।

भावपूजा का माहात्म्य कैसा? तो कहा कि—चंद्रकांतादि मणि जड़ित सुवर्ण के पगथिये युक्त एक हजार स्तंभ युक्त अतीव विस्तृत और स्वर्ण के फरस बिठाये हुए ऐसा जिनमंदिर बनावें, उससे भी तपप्रधान संयम उच्च है। क्योंकि उससे ही मोक्ष है। इस कारण भावपूजा रूप संयम का ही प्रयत्न करना, उसमें प्रमाद न करना। प्रमाद करने से महा अनर्थ होता है। जैसे— ।।४९४।।

निब्बीए दुब्भिक्खे, रण्णा दीवंतराओ अन्नाओ ।
आणेऊणं बीअं, इह दिन्नं कासवजणस्स ।।४९५।।

'निर्बीज'=जहाँ बोने के लिए भी धान्य नहीं ऐसे दुष्काल के समय में किसी राजा ने दूसरे द्वीप में से बीज मंगाकर किसानों को बीज बोने के लिए दिया ।।४९५।।

केहि वि सव्वं खइयं, पइन्नमन्नेहि सव्वमद्धं च ।
वुत्तुग्गयं च केइ, खित्ते खुट्टंति संतत्था ।।४९६।।

उसमें कितने ही किसानों ने तो वह बीज सब खा लीया। दूसरों ने आधा बीज खाया और आधा बोया और दूसरों ने बोया और वह उगा भी कितनेक लोग राजा से छूपाकर घर ले जाने के लिए खेत में ही गाड़ देते हैं। बाद में राजा के खयाल में आने पर अरे! अब हम पकड़े जायेंगे ऐसे भय से 'संत्रस्ताः'=भयभीत हो गये व्याकुलता से उनकी आंखे फट गयी और राजा के हुक्म से सिपाहीयों द्वारा पकड़े जाने पर अत्यंत कष्ट से दुःखी हुए ।।४९६।।

राया जिणवरचंदो, निब्बीयं धम्मविरहिओ कालो ।
खित्ताइं कम्मभूमी, कासवयग्गो य चत्तारि ।।४९७।।
अस्संजएहिं सव्वं, खइयं अद्धं च देसविरएहिं ।
साहुहिं धम्मबीअं, उत्तं नीअं च निप्फत्तिं ।।४९८।।

उपरोक्त दृष्टांत का उपनय बताते है। राजा के सदृश यहाँ जिनेश्वर है निर्बिज काल समान धर्म रहित काल, क्षेत्र के समान कर्मभूमि, किसान वर्ग

के समान १. असंयत-अविरतिधर, २. देशविरतिधर, ३. सर्वविरतिधर सुसाधु, ४. पासत्था ये चार है। इनको जिनेश्वर ने केवलज्ञानरूपी द्वीप में से विरति रूप बीज धर्मबीज लाकर मोक्ष-धान्य के पाक के लिए दिया।

अविरतिधरों ने विरति-बीज सब खा गये। क्योंकि उनको विरति नहीं है। और देश विरतिधरों ने आधा खा गये। साधुओं ने विरतिरूप धर्म बीज स्वयं के आत्मक्षेत्र में बोया और सम्यक् पालन से पाक भी आया। ।।४९७-४९८।।

जे ते सव्वं लहिउं, पच्छा खुट्टंति दुब्बलधिईया ।
तयसंजमपरितंता, इह ते ओहरिअसीलभरा ।।४९९।।

परंतु चोथे प्रकार से पासत्था ऐसे है कि जो वह विरति रूपी धर्मबीज प्रासकर पीछे से जिनाज्ञा से विरुद्ध वर्तनकर उस चोर किसान के जैसे स्वयं के आत्म क्षेत्र में उस धर्मबीज को नष्ट कर देता है क्योंकि स्वीकृत विरतिं के निर्वाह के लिए समर्थ मनोबल रूपी धैर्य दुर्बल है और तप संयम में थके हुए और शीलसमूह को दूर करने वाले (पार्श्वे-बाजु में रख देनेवाले वे इस जिन शासन में पार्श्वस्थ-पासत्था कहे जाते हैं ।।४९९।।

आणं सव्वजिणाणं, भंजइ दुविहं पहं अइक्कंतो ।
आणं च अइक्कंतो, भमइ जरामरणदुग्गम्मि ।।५००।।

इस दृष्टांत-उपनय का फलितार्थ यह है कि साधु श्रावकपने के द्विविध मार्ग का उल्लंघन करने वाला सभी जिनेश्वरों की आज्ञा का भंजक बनता है और जिनाज्ञा का भंजक जरा-मृत्यु के दुर्ग स्वरूप अनंत संसार में भटकता है। परंतु परिणाम गिर गये हो तो क्या करना? वह अब कहते हैं ।।५००।।

जइ न तरसि धारेउं, मूलगुणभरं सउत्तरगुणं च ।
मुत्तूण तो तिभूमी, सुसावगतं वरतरागं ।।५०१।।

जो उत्तर गुणों के साथ मूल गुण (महाव्रतादि) समूह को आत्मा में व्यवस्थित रीति से धारण न कर सकता हो तो श्रेयस्कर है कि (स्वयं की जन्मभूमि, दीक्षाभूमि और विहार भूमि) इन तीन भूमि के सिवाय के प्रदेश में रहकर संपूर्ण गृहस्थ धर्म का पालन करे ।।५०१।।

अरिहंतचेइयाणं, सुसाहूपूयारओ दढायारो ।
सुसावगो वरतरं, न साहुवेसेण चुअधम्मो ।।५०२।।

क्योंकि अरिहंत परमात्मा की पूजा में रक्त, उत्तम मुनियों की वस्त्रादि से पूजा में उद्यमी उजमाल और अणुव्रतादि देशविरति धर्म के आचार पालन में द्रढ उत्तम श्रावक विशेष अच्छा है। परंतु साधु वेश रखकर संयम धर्म से भ्रष्ट होने वाला अच्छा नहीं। क्योंकि जिनाज्ञा-भंजक और शासन की लघुता कराने वाला बनता है ।।५०२।।

सव्वं ति भाणिऊणं, विरई खलु जस्स सव्विया नत्थि ।
सो सव्वविरइवाई, चुक्कइ देसं च सव्वं च ।।५०३।।

सव्वं (सावज्जं-समस्त पाप प्रवृत्तियों का त्रिविध त्रिवधे त्याग करता हूँ ऐसा बोलकर जिसको सर्व पाप-व्यवहार की निवृत्ति है। ऐसा सर्व विरति को उच्चरनेवाला देशविरति और सर्वविरति से चूक जाता है (क्योंकि प्रतिज्ञा का पालन नहीं करता। मात्र विरति ही नहीं परंतु सम्यक्त्व से भी चूक जाता है। क्योंकि-- ।।५०३।।

जो जहवायं न कुणइ, मिच्छद्दिट्ठी तओ हु को अन्नो?।
वड्ढेइ अ मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो ।।५०४।।

जो कहने के अनुसार पालन नहीं करता उससे बढ़कर दूसरा कौन मिथ्या दृष्टि है? अर्थात् वह मिथ्यादृष्टि शेखर है। वह दूसरों के मिथ्यात्व-यानि विपरीत अभिनिवेश को बढ़ा रहा है क्योंकि वह दूसरे को स्वयं के शिथिलाचार से सर्वज्ञ-आगम पर संदेह उत्पन्न कराने वाला बनता है कि क्या जिनागम का धर्म ऐसा असद् आचारमय ही होगा! इस धर्म में मात्र बोलने का सत्य और आचरण में कुछ भी नहीं? ।।५०४।।

आणाए च्चिय चरणं, तब्भंगे जाण किं न भग्गंति? ।
आणं च अइक्कंतो, कस्साएसा कुणइ सेसं? ।।५०५।।

जिनाज्ञा का महत्त्व कैसा? तो कहा कि—आज्ञानुसार वर्तन से ही चारित्र है। आज्ञा का भंग हो तो समजना की क्या भंग न हुआ? सभी धर्म नष्ट हो गया। जो आज्ञा का ही उल्लंघन करता है तो शेष अनुष्ठान क्रिया किसकी आज्ञा से करता है तात्पर्य आज्ञा भंग से विडंबणा ही है ।।५०५।।

संसारो अ अणंतो, भट्ठचरित्तस्स लिंगजीविस्स ।
पंचमहव्वयतुंगो, पागारो भिल्लिओ जेण ।।५०६।।

जिसने पाँच महाव्रत रूपी उच्च किल्ला तोड़ दिया (चारित्र के परिणाम नष्ट कर दिये) ऐसा चारित्र भ्रष्ट और 'लिंगजीवी'=साधु वेश को धंधे का माल बनाकर उसके आधार से जीवन निर्वाह करने वाला अनंत

अपरिमित दीर्घ दुःखद संसार भवभ्रमण को उत्पन्न करता है। पाँच महाव्रत यह उत्तम ऊँचा प्राकर किल्ला है इसके कारण जीवरूपी नगर की रक्षा होती है और उसमें गुण समुदाय सुरक्षित रहते हैं ।।५०६।।

न करेमि त्ति भणित्ता, तं चेव निसेवए पुणो पावं ।
पच्चक्खमुसावाई, मायानियडीपसंगो य ।।५०७।।

आज्ञाभंजक भ्रष्ट चारित्री कैसा महासाहसिक है कि—"मैं सर्व सावद्य योग नहीं करूंगा" ऐसी प्रतिज्ञा करके पुनः वही स्वयं ने निषेध किये हुए पाप का बेफाम अधिकता निड़र बनकर सेवन करता है साक्षात् झूठ बोलने वाला है असत्य भाषी है (**धोले दिन चोरी करने वाले चोर के जैसा है। सुधार के भी अयोग्य है** इसमें उसे) 'माया-निकृति'=आंतर बाह्य दंभ सेवन का ही अवसर-समय रहता है ।।५०७।।

लोएऽवि जो ससूगो, अलिअं सहसा न भासए किंचि ।
अह दिक्खिओऽवि अलियं, भासइ तो किं च दिक्खाए ।।५०८।।

वह सामान्यजन से भी विशेष पापिष्ठ है क्योंकि—लोक में भी जो कोई सशंक-कोमल पापभीरु होता है कि विचार पूर्वक कार्य करने वाला होने से एकाएक कुछ भी असत्य नहीं बोलता। सहसा भी असत्य न बोला जाय उसका खयाल रखता है तब **साधु-दीक्षा लेकर भी असत्य बोले?** तो उसकी दीक्षा से क्या? अर्थात् कुछ भी हित नहीं, उस वेष से आत्मरक्षण नहीं मिलता ।।५०८।।

महव्वयअणुव्वयाइं छड्डेउं, जो तवं चरइ अन्नं ।
सो अन्नाणी मूढो, नावाबुड्डो मुणेयव्वो ।।५०९।।

कहो कि 'तप से सर्व साध्य है' इस शास्त्र वचन से संयम नहीं परंतु तप में यत्न रखें तो? **महाव्रत-अणुव्रतों का त्याग कर उसमें दूषण लगाकर जो तपाचरण करता है वह अज्ञानी है,** क्योंकि **वह मोह से मारा हुआ है। उसे समुद्र में नौका भेदकर उसमें से लोहे की कील लेने वाला 'नावाब्रोद'=नावामूर्ख जैसा जानना।** छिद्र गिरायी हुई नौका समुद्र में डूबा देती है अतः किल प्रास की वह व्यर्थ। उसका कोई उपयोग नहीं। वैसे संयम-भंग भव-समुद्र में डूबा दे अर्थात् वह तपाचरण व्यर्थ जाय ।।५०९।।

सुबहुं पासत्थजणं नाऊणं, जो न होइ मज्झत्थो ।
न य साहेइ सकज्जं, कागं च करेइ अप्पाणं ।।५१०।।

'सुबहु'=अनेकानेक प्रकार से पासत्थे लोगों को देखकर मध्यस्थ नहीं बनता (मौन रखने का नहीं करता, जिससे रागद्वेष में आ जाने के द्वारा जो स्वयं की साधना को अच्छी प्रकार नहीं साधता वह स्वयं के आत्मा को कौए जैसा बनाता है। क्योंकि मौन न धरकर दूसरे साधु श्रावकों के दोष बोलने से वे सब इकट्ठे होकर लोगों में स्वयं को गुणवान हंस जैसे और इसे दोष बोलने वाले को कौए जैसा बतावें ऐसा बनें ।।५१०।।

परिचिंतिऊण निउणं, जइ नियमभरो न तीरए वोढुं ।
परचित्तरंजणेणं न वेसमित्तेण साहारो ।।५११।।

'निपुण'=सूक्ष्म बुद्धि से पूर्ण विचारकर जो जीवन पर्यंत मूल-उत्तर गुण रूप नियमों का समूह वहन करना शक्य न हो तो 'परचित्तरंजणेण' (यह भी साधु महाराज है ऐसी दूसरों में आदर बुद्धि कराने वाले वेश मात्र से आत्मा को रक्षण नहीं मिलता। तात्पर्य-वेशधारी गुण रहित लोगों को मिथ्यात्व प्राप्ति का कारण बनने से अतिगाढ अपरिमित संसार वृद्धि करता है। इस कारण ऐसा साधुओं का वेश त्याग श्रेयस्कर है ।।५११।।

निच्छयनयस्स चरणस्सुवघाए, नाणदंसणवहोऽवि ।
ववहारस्स उ चरणे हयम्मि, भयणा उ सेसाणं ।।५१२।।

संयमनाश होने पर भी ज्ञान दर्शन तो है ही। तो फिर वह एकांते निर्गुणी नहीं। फिर ऐसे का वेश त्याज्य क्यों? तो कहा कि—'निश्चयनयस्स' निश्चयनय की अर्थात् आंतर तत्त्व निरूपण की दृष्टि से ऐसा कहा जाता है कि चारित्र का नाश होने पर ज्ञान-दर्शन का भी नाश होता है। ज्ञान दर्शन ये दोनों चारित्र के साधक होने से ही वास्तविक ज्ञान दर्शन रूप बनते हैं। 'व्यवहारस्य'=व्यवहारनय की दृष्टि से अर्थात्-बाह्यतत्त्व निरूपण की दृष्टि से चारित्र नष्ट होने पर दूसरे दो की भजना (अर्थात् एकांत नहीं की दोनों नष्ट हो ही जाय। चारित्र का कारण ज्ञान दर्शन है। चारित्र यह कार्य है। चारित्र के अभाव में ये दो हो और न भी हो। कारण होने पर कार्य हो ही ऐसा नियम नहीं है दृष्टान्तरूप में अग्नि होने पर धूआँ हो और न भी हो जैसे अग्निमय लोहे के सलिये में पाइप में धूआँ नहीं होता ।।५१२।।

सुज्झइ जई सुचरणो, सुज्झइ सुस्सावओऽवि गुणकलिओ।
ओसन्नचरणकरणो सुज्झइ संविग्गपक्खरुई ।।५१३।।

साधु-श्रावक मार्ग के समान तीसरा संविग्न पाक्षिक मार्ग भी कार्य साधक है वो बताते हैं-द्रढ़ चारित्रवान मुनि सर्वकर्ममल धोने के द्वारा निर्मल

होता है। सम्यक्त्वादि गुणों में द्रढ़ सुश्रावक भी निर्मल होता है वैसे चरण-करण, मूल-उत्तर गुण में शिथिल भी 'संविग्नपक्ष-रुचि'=मोक्षाभिलाषी सुसाधु की आचरणा की रुचिवाला 'शुद्ध प्ररूपक' हो तो वह भी निर्मल होता है। गाथा में 'सुज्झइ' पद अनेकबार यह भेद बताने के लिए है कि मुनि को साक्षात् शुद्धि और शेष दो को परंपरा से शुद्धि ।।५१३।।

संविग्गपक्खियाणं, लक्खणमेयं समासओ भणियं ।
ओसन्नचरणकरणाऽवि जेण कम्मं विसोहंति ।।५१४।।

संविग्न पाक्षिक (संविग्ने-मोक्षाभिलाषी सुसाधुवर्ग पर 'पक्ष'-सुंदर बुद्धि वाले का यह लक्षण पीछे की गाथा में कहा जायगा वह गणधरादि ने संक्षेप में बताया है कि जिससे प्राणी कर्म परतंत्रता से 'ओसन्न चरण करणावि' शिथिलाचारी प्रमादी बनें हुए भी क्षण-क्षण में ज्ञानावरणादि कर्म मल को धोते रहते हैं ।।५१४।।

सुद्धं सुसाहुधम्मं कहेइ, निंदइ य निययमायारं ।
सुतवस्सियाणं पुरओ, होइ य सव्वोमराइणिओ ।।५१५।।

संविज्ञ पाक्षिक निर्दोष साधु धर्म का प्ररूपक और अपने शिथिलाचार की निंदा-घृणा करनेवाला होता है जिससे स्वयं 'सुतवस्सियाणं'=उत्तम साधुओ के आगे अर्थात् उनके बिच में रहकर 'आज के दीक्षित से भी' सभी मुनियों से 'अवमरात्निक'=न्यून पर्यायवाला बनकर रहता है ।।५१५।।

वंदइ न य वंदावेइ, किइकम्मं कुणइ, कारवे नेय ।
अत्तट्ठा न वि दिक्खइ, देइ सुसाहूण बोहेउं ।।५१६।।

स्वयं सभी सुसाधु को वंदन करता है परंतु स्वयं से छोटे भी सुसाधु के पास स्वयं वंदन नहीं करवाता। स्वयं 'कृतिकर्म'=साधुओं की विश्रामणादि सेवा-वैयावच्च करता है, परंतु उनके पास कराता नहीं। 'अत्तट्ठा' स्वयं से प्रतिबोधित को स्वयं के शिष्य रूप में स्वयं दीक्षित नहीं करता परंतु प्रतिबोधितकर सुसाधुओं को सौंप देता है सुसाधुओं के पास भेज देता है ।।५१६।।

ओसन्नो अत्तट्ठा, परमप्पाणं च हणइ दिक्खंतो ।
तं छुहइ दुग्गईए, अहिययरं बुड्डइ सयं च ।। ५१७।।

शिथिलाचारी शिष्य क्यों न करे? तो कहा कि—शिथिलाचारी स्वयं के शिष्य रूप में दीक्षा दे तो वह उसकी ओर अपनी हत्या करता हैं [भाव प्राण का नाश करता है। वह शिष्य को नरकादि दुर्गति में फेंकता है और स्वयं पूर्वावस्था से अधिक भवसागर में डूबता है ।।५१७।।

जह सरणमुवगयाणं, जीवाणं निकिंतए सिरे जो उ ।
एवं आयरिओ वि हु, उस्सुत्तं पन्नवंतो य (उ) ।।५१८।।

उत्सूत्र प्ररूपक भी कैसा भयंकर? तो कहा कि—जिस प्रकार शरण में भय से रक्षणार्थे स्वीकृत विश्वासु जीवों का जो मस्तक काटता है और वह दुःखद दुर्गतियों में अपने आप को धकेल देता है। उसी प्रकार शरण आये विश्वासु शिष्यों को उत्सूत्र-आगम विरुद्ध प्ररूपणा करनेवाला और 'तु' आचरणा करने वाला आचार्य भी स्व पर को दुर्गति में धकेलता है ।।५१८।।

सावज्जजोगपरिवज्जणा, उ सव्वुत्तमो जईधम्मो ।
बीओ सावगधम्मो, तइओ संविग्गपक्खपहो ।।५१९।।

सभीपाप प्रवृत्ति के त्याग के कारण यतिधर्म-साध्वाचार यह सर्वोत्तम मोक्षमार्ग है। दूसरा श्रावक धर्म-और तीसरा संविग्न पाक्षिक धर्म है। पीछे के दो धर्म मोक्ष मार्ग रूप चारित्र के प्रति कारण होने से ये भी मोक्ष मार्ग है कारण में कार्य का उपचार होने से ।।५१९।।

सेसा मिच्छद्दिट्ठी, गिहिलिंगकुलिंगदव्वलिंगेहिं ।
जह तिण्णि य मुक्खपहा, संसारपहा तहा तिण्णि।।५२०।।

उपरोक्त तीन मार्ग के अलावा गृह लिंग, कुलिंग, द्रव्यलिंग से (गृहस्थपने में गुरु, तापसादि और द्रव्य से साधु वेशधारी ये मिथ्यादृष्टि है विपरीत दुराग्रह से संसार मार्ग में है। जैसे तीन मोक्ष मार्ग है वैसे तीन संसार मार्ग जानना ।।५२०।।

संसारसागरमिणं, परिब्भमंतेहिं सव्वजीवेहिं ।
गहियाणि य मुक्काणि य, अणंतसो दव्वलिंगाइं ।।५२१।।

गृहस्थ संन्यासी आदि तो संसार गामी बन जाय परंतु भगवंत का वेश लिया हुआ संसार गामी कैसे बनें? ऐसा मन में सम्यग्ज्ञानादि के अभाव से लगता है। परंतु लिंग, वेश मात्र से रक्षण नहीं है क्योंकि इस अपार संसार सागर में भटकते सभी जीवों ने अनंतबार द्रव्य लिंग (समकित बिना साधुवेश) लिये और छोड़ दिये हैं। काल अनादि होने से सभी पदार्थों के साथ संयोग असंभवित नहीं है ।।५२१।।

अच्चणुरत्तो जो पुण, न मुयइ बहुसोऽवि पन्नविज्जंतो ।
संविग्गपक्खियत्तं, करिज्ज लब्भिहिसि तेण पहं ।।५२२।।

अत्यंत निर्गुणी वेश न छोड़े तो गीतार्थ उसे समझावें। गुण दोष के

कथन द्वारा अनेक बार समझाने पर भी वेश के गाढ़ अनुराग से वेश को न छोड़ने वाला और कुछ कोमल भाव वाला होने से वेश न छोड़े तो उसे समझावे कि तूं संविग्न पाक्षिकपना पालन कर जिससे चारित्र धर्म का बीजाधान रहने से भवांतर में तूं इस संविग्न पाक्षिकपने से मोक्ष मार्ग पा सकेगा ।।५२२।।

कंताररोहमद्धाण-ओमगेलन्नमाइकज्जेसु ।
सव्वायरेण जयणाइ, कुणइ जं साहुकरणिज्जं ।।५२३।।

इन संविग्न पाक्षिकों का उपयोग क्या? तो कहा कि—बड़ा अरण्य-लंघन, रोह-पर सैन्य का घेराव, (भिक्षा से दुर्लभ) अद्धाण-विहार मार्ग, अवम-दुष्काल, बिमारी, राजा का उपद्रव आदि कार्यों में सर्व शक्ति से यतना से प्रवर्तन करना जिससे मन में खेद-वैमनस्यपना न हो इसमें संविग्न पाक्षिक आत्मा जो शोभनीय करणीय हो या तपस्वी का कार्य हो वह करें ।।५२३।।

आयरतरसंमाणं सुदुक्करं, माणसंकडे लोए ।
संविग्गपक्खियत्तं, ओसन्नेणं फुडं काउं ।।५२४।।

'माणसंकडे'=गर्व से तुच्छ मनवाले स्वाभिमान ग्रस्त लोक के बीच शिथिलाचारी को अतिशय प्रयत्न से छोटे भी सुसाधुओं को वंदनादि सन्मान करने रूप संविग्न पाक्षिकपना प्रकट रूप में आचरण में लेना या स्पष्ट निष्कपट भाव से बहाने बनाये बिना वैसा आचरण करना अत्यंत दुष्कर है ।।५२४।।

सारणचइआ जे गच्छ-निग्गया, पविहरंति पासत्था ।
जिणवयणबाहिरा वि य, ते उ पमाणं न कायव्वा ।।५२५।।

१. अधिक विशेष समय तक संविग्न रहकर फिर शिथिल हो वह पूर्वोक्त तीन में से कौन सी कक्षा में? अथवा २. प्रमादी और गीतार्थ की सारणा वारणा के समय जो ऐसा कहे कि 'यह तो हमसे बड़ों से भी आचरित है? तो ऐसे कौन सी कक्षा में? तो कहा कि—जो सारणादि त्रसीत होकर उन्हें छोड़कर सद्गुरु संचालित साधु गच्छ में से नीकलकर यथेष्ट प्रवृत्ति से विचरते हो तो वे भी जिनाज्ञा बाह्य है। जिनाज्ञा के मात्र पास में रहनेवाले किन्तु आचरण करने वाले नहीं अतः पासत्था है। इनको ''प्रमाण न कर्तव्याः' सुसाधु के रूप में नहीं माननें। माने तो अर्थापत्ति से भगवान को अप्रमाण माना गिना जाता है। संविग्नता जन्म सिद्ध परवाना नहीं है। किन्तु संपूर्ण साधु धर्म और गृहस्थ धर्म को वर्तमान काल में पालन करने वाले वे संविग्न साधु और सुश्रावक है। ऐसा कहने से मार्ग बहार प्रवृत्ति करत्ते हुए भी मन से

मोक्षमार्ग में द्रढ़ बंधा हुआ और उसका ही पक्षकार हो वह संविग्न पाक्षिक है। इनके सिवाय पासत्थादि है। वर्तमान के पासत्थादि के पूर्व के संविग्नपने के आचरण की अब महत्ता नहीं है। सारांश लोकाचरण से विलक्षण आगम परतंत्रता ही अपरलोक-मोक्ष का अंग है। ऐसी परतंत्रता रखकर शक्त्यनुरूप जो कुछ आचरण किया जाय वही कर्म निर्जराकारी है अतः कहते हैं— ।।५२५।।

हीणस्स वि सुद्धपरूवगस्स, संविग्गपक्खवायस्स ।
जा जा हविज्ज जयणा, सा सा से निज्जरा होइ ।।५२६।।

निष्कलंक चारित्र तो दूर किन्तु उत्तर गुणों से युक्त न्यून फिर भी 'शुद्ध प्ररूपक' यथावस्थित सर्वज्ञ-आगम-प्रकाशन और संविग्न साधुओं पर पक्षपात वाले से जो-जो जयणा परिमित जलादि ग्रहण में दोष अल्प लगाने की कुछ शुभ परिणति रूप यतना होती है। वे वे और काया से शिथिल होने पर भी हृदय में शुद्ध आराधना पर द्रढ़ राग और सदनुष्ठान पर गाढ़ ममता होने से वह जयणा निर्जराकारी होती है ।।५२६।।

सुंकाईपरिसुद्धे, सइ लाभे कुणइ वाणिओ चिट्ठं ।
एमेव य गीयत्थो, आयं दट्ठुं समायरइ ।।५२७।।

गीतार्थ अधिक गुण और अल्पदोष का विचारकर जिनाज्ञानुसार कुछ दोषवाला सेवन करे तो वह भी महानिर्जरा के लाभ के लिए होता है। क्योंकि जैसे व्यापार में वणिक राज्य के कर आदि (नौकर के पगार, व्याज, दुकानभाड़ा आदि खर्च दे देने के बाद जो मुनाफा रहता हो तो व्यापारी वह प्रवृत्ति करता है। उसी दृष्टि से 'गीतार्थ' आगमसार पाया हुआ पुरुष अधिकतर ज्ञानादिका लाभ देखकर कारण से यतना से कुछ (अल्पदोष वाला) सेवन करता है ।।५२७।।

आमुक्कजोगिणो च्चिअ, हवइ थोवाऽवि तस्स जीवदया।
संविग्गपक्खजयणा, तो दिट्ठा साहुवग्गस्स ।।५२८।।

गीतार्थ को आय-व्यय की तुलनाकर सप्रयोजन सेवन करने से निर्जरालाभ हो, परंतु निष्प्रयोजन सेवन करने वाले ऐसे संपूर्ण साधुधर्म से रहित संविग्नपाक्षिक के मार्ग का समर्थन क्यों किया? तो कहा कि— 'आमुक्कजोगिणो'=संयम धर्म की प्रवृत्तियाँ सर्वथा छोड़ देने वाले साधुवर्ग का विचार करे तो उसको थोड़ी भी जीवदया होती है। इस कारण 'संविग्नपक्ष'=मोक्षाभिलाषी सुसाधु के पक्षवाले की जयणा पूर्वोक्त मनाक् शुभ परिणति होने का भगवान ने देखा है। तात्पर्य-अधिक काल

कुपथ्य सेवन से रोगी बने हुए को सुवैद्य के संपर्कादि से पथ्य सेवन द्वारा लाभ मिलता देखकर आरोग्य की आकांक्षा से सर्वथा कुपथ्य सेवन के त्याग की भावना होती है। और हृदय से तो वह पथ्य सेवन की ही झंखना करता है। फिर भी अमल में कुपथ्य त्याग धीमे-धीमे करता आता है। इस प्रकार यहाँ अधिक काल पासत्थापने का सेवन करने वाले रोगीष्ठ बने हुए को सुसाधुजन के संपर्कादि से तीव्र धर्मश्रद्धा और गाढ़ता से संयमराग उपस्थित होने पर भी पासत्थेपने का सर्वथा त्याग दुष्कर होने से धीरे-धीरे त्याग करता आता है। उससे वह संविग्न पाक्षिकपना आराधता है। अतः इसे तीसरे मार्ग रूप में अर्थात् मोक्ष का परंपरा से कारण रूप में कहा। शेष तो पूर्व में सुसाधुता का पालनकर फिर वह छोड़कर सुसाधुमार्ग प्रति अनादर वाला बन जाय तो वह संविग्न पाक्षिक भी नहीं है ।।५२८।।

किं मूसगाण अत्थेण? किं वा कागाण कणगमालाए? ।
मोहमलखवलिआणं, किं कज्जुवएसमालाए? ।।५२९।।

यह अनेक प्रकार के सद उपदेशो की माला स्वरूप उपदेश माला अयोग्य को नहीं देनी। क्योंकि उंदरों को सोने आदि पैसे मिलने से क्या लाभ? कौए को सोने की या रत्नजड़ित सोने की माला से क्या प्रयोजन? अर्थात् कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता वैसे मिथ्यात्वादि कर्मकीचड़ से खरंटित जीवों को उपदेशमाला से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ।।५२९।।

चरणकरणालसाणं, अविनयबहुलाण सययऽजोगमिणं ।
न मणी सयसाहस्सो, आवज्झइ कोच्छुभासस्स ।।५३०।।

चरण-करण के सम्यक् पालन में प्रमादी और अनेक प्रकार के अविनय से अत्यंत भरे हुए को यह उपदेशमाला देनी यह सर्वदा अनुचित है। 'कुच्छ भासस्स'=कौए के कंठ में लाख मूल्य का रत्न नहीं बंधा जाता। बांध ले तो वह हास्यपात्र बनता है वैसे दुर्विनीत को उपदेश माला देने वाला हांसी पात्र बनता है ।।५३०।।

नाऊण करगयामलं व, सब्भावओ पहं सव्वं ।
धम्मम्मि नाम सीइज्जइ, त्ति कम्माइं गुरुआई ।।५३१।।

ऐसे उपदेश के थोक से अयोग्य को सुधारा कैसे नहीं? तो कहा कि--हाथ में रहे हुए आंवले के सदृश सभी ज्ञानादि मोक्षमार्ग सद्भाव से उपादेय रूप में स्पष्ट जानते हुए भी जो-जो धर्म में प्रमादी बनें। इस पर से जाना जाता है कि उनके कर्म भारी है। अर्थात् वे बेचारें कर्मों से गाढ़ परतंत्र होने से ही सुधरते नहीं ।।५३१।।

धम्मत्थकाममुक्खेसु, जस्स भावो जहिं जहिं रमइ ।
वेरग्गेगंतरसं न इमं सव्वं सुहावेइ ।।५३२।।

और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का जब उपदेश दाता हो तब इसमें से जिसका भाव अभिप्राय यानि अति रसिकता जिस-जिस धर्म, काम या अर्थ में हो, उसमें-उसमें ही वह रक्त बनता है, सभी में या मात्र धर्म में नहीं, तो वैराग्य के एकान्ते रसवाला यह शास्त्र सभी को आल्हादित न करे यह सहज है, विपरीत भारे कर्मी को यह विमुख करता है, उन्हें अरुचिकर बनता है इससे ऐसों को नहीं देना ।।५३२।।

संजमतवालसाणं, वेरग्गकहा न होइ कण्णसुहा ।
संविग्गपक्खियाणं, हुज्ज व केसिंचि नाणीणं ।।५३३।।

संयम और तप में 'अलस'=उत्साह उद्यम बिना के भारे कर्मी को वैराग्य का उपदेश सुनना पसंद नहीं, कान द्वारा चित्त को आल्हादक नहीं होता। संविग्न पाक्षिक को संयम तप में अनुत्साह होने पर भी ज्ञानी होने से, संयम तप पर पक्षपात होने से ऐसे आत्माओं को वैराग्य का उपदेश आनंद दायक बनता है ।।५३३।।

सोऊण पगरणमिणं, धम्मे जाओ न उज्जमो जस्स ।
न य जणियं वेरग्गं, जाणिज्ज अणंतसंसारी ।।५३४।।

यह शास्त्र मिथ्यात्वादि महासर्प से डरे हुए जीवों को जीवन में साध्य क्या? इसका भान न होने से मात्र प्रकरण-पदार्थ संग्रह का शुष्क बोध कराने वाला होता है। क्योंकि यह उपदेश माला नाम का प्रकरण श्रवणकर जिसको सर्वज्ञ कथित धर्म में विशिष्ट उत्साह से भरा हुआ उद्यम न जागे! अरे! श्रवणकर 'वैराग्य'=विषय विमुखता भी उत्पन्न न हो उसे अनंत संसारी जानना। काल सर्प से डसे हुए के सदृश वह आसाध्य है। कारण कि— ।।५३४।।

कम्माण सुबहुआणुवसमेण उवगच्छई इमं सम्मं ।
कम्मलचिक्कणाणं, वच्चइ पासेण भण्णंतं ।।५३५।।

इस समस्त शास्त्र का सम्यग्बोध अति बहुलकर्मी के स्वकार्य करने के असामर्थ्य रूप उपशम, क्षय, क्षयोपशम से कुछ शेष कर्म बाकी रहे तब प्राप्त होता है। बाकी मिथ्यात्वादि कर्म कीचड़ से खरंटित जीवों के आगे यह शास्त्र वांचा जाता हो तब उनके अंतःकरण में उतरे बिना उनके पास से चला जाता है। ऊपर से बह जाता है ।।५३५।।

उवएसमालमेयं, जो पढइ सुणइ कुणइ व। हियए ।
सो जाणइ अप्पहियं, नाऊण सुहं समायरइ ॥५३६॥

यह उपदेश माला जो धन्य पुरुष पढ़ता है, सूत्र से बोलता है, अर्थ से सुनता है और हृदयस्थ प्रतिक्षण इसके पदार्थ को दिल में भावित करता है वह इस लोक परलोक के स्वयं के हित को समझाता है और इसे समझकर 'सुहं'=बिना मुश्किल से सुख पूर्वक आचरता है ।।५३६।।

धंतमणिदामससिगयणिहिपयपढमक्खराभिहाणेणं[1] ।
उवएसमालपगरणमिणमो रइअं हिअट्ठाए ॥५३७॥

धंत-मणि-दाम-ससि-गय-णिहि इन छ पदों के प्रथमाक्षर से बनने वाले (धर्मदास गणि) ने 'हियट्ठाए'=मोक्ष के लिए और जीवों के उपकार के लिए इस उपदेश माला नामक प्रकरण शास्त्र रचा-जिनागम में से अर्थ से उद्धरकर सूत्र बद्ध किया ।।५३७।।

जिणवयणकप्परुक्खो, अणेगसत्थत्थसाल विच्छिन्नो ।
तवनियमकुसुमगुच्छो, सुग्गइ फलबंधणो जयइ ॥५३८॥

द्वादशांगी रूप जिन वचन जिनागम यह कल्पवृक्ष है। क्योंकि—इष्ट फलदाता है। यह व्यापक होकर सम्यक् छाया देनेवाला होने से अनेक सूत्र शास्त्र और तदर्थ रूपी शाखाओं से विस्तार वाला है। इसमें मुनि-मधुकर को प्रमोदकारी तप नियम रूपी पुष्पों के गुच्छे हैं। और यह स्वर्ग मोक्ष रूपी अनंत सुख रस भरे हुए फल की निष्पत्ति युक्त है। यह जिनागम-कल्पवृक्ष मिथ्याशास्त्र रूपी वृक्षों को अकिंचित्कर करने से जयवंत वर्तता है ।।५३८।।

जुग्गा सुसाहुवेरग्गिआण, परलोगपट्ठिआणं च ।
संविग्गपक्खिआणं, दायव्वा बहुसुआणं च ॥५३९॥

सुसाधु और वैरागी श्रावक और संयम सन्मुख होने से परलोक में हित की प्रवृत्ति में उद्यत संविग्न पाक्षिक को यह उपदेश माला देने योग्य है और ऐसे विवेकी बहुश्रुत को देनी ।।५३९।।

इय धम्मदासगणिणा, जिणवयणुवएसकज्जमालाए ।
मालव्व विविहकुसुमा, कहिआ य सुसीसवग्गस्स ॥५४०॥

जिनवचन के उपदेश का कार्य आगमों की माला में से धर्मदास गणि *ने विविध पुष्पों वाली माला के समान इस प्रकार गूंथकर विविध उपदेश वाली यह उपदेश माला उत्तम शिष्य वर्ग को कही ।।५४०।।*

---

1 पढमक्खराणनामेणं

संतिकरी वुड्ढिकरी, कल्लाणकरी, सुमंगलकरी य ।
होइ कहगस्स परिसाए, तह य निव्वाणफलदाई ।।५४१।।

यह उपदेश माला उपदेशक और श्रवण कारक सभा के विषयासक्ति और कषायों की 'शांति' उपशम करने वाली, वैराग्य और ज्ञानादि गुणों की वृद्धि करने वाली, आत्महित प्रवृत्ति रूप कल्याण करने वाली, विघ्न निवारक और उच्चतर प्रशस्त अध्यवसाय प्रेरक उत्तम मंगल की करनेवाली बनती है। और इसी प्रकार आगे-आगे निर्वाण-मोक्ष फल देने वाली बनती है ।।५४१।।

इत्थ समप्पइ इणमो, मालाउवएसपगरणं पगयं ।
गाहाणं सव्वाणं, पंचसया चेव चालीसा ।।५४२।।

यहाँ यह प्राकृतभाषा में रचित हारमालामय प्रस्तुत उपदेश प्रकरण समाप्त होता है। इसमें सभी गाथाएँ ५४० कुल गाथा है ।।५४२।।

जाव य लवणसमुद्दो, जाव य नक्खत्तमंडिओ मेरु ।
ताव य रइया माला, जयम्मि थिरथावरा होइ ।।५४३।।

जब तक लवण समुद्र और जब तक नक्षत्रों से शोभित मेरु पर्वत अस्तित्व में है तब तक यह गूंथी हुई उपदेश माला जगत में स्थिर-स्थावर-अविचल-अविनाशी रहो ।।५४३।।

अक्खरमत्ताहीणं, जं चिय पढियं अयाणमाणेणं ।
तं खमह मज्झ सव्वं, जिणवयणविणिग्गया वाणी ।।५४४।।

इस उपदेश माला में अनजानपने से मेरे से कुछ एक भी अक्षर या मात्रा से भी हीनाधिक कहा गया हो तो वह सब मेरे अपराध की श्री जिनेश्वर भगवान के मुखारविंद से नीकली हुई वाणी सरस्वती क्षमा दो। क्षमा करो ।।५४४।।

समाप्त

प्रश्न : ५५५- "महाविदेह में पृथक्-पृथक् ग्च्छ, पंथ, समुदाय या संप्रदाय हो शकते है ?

महाविदेह में भी जितने गणधर उतने गच्छ (गण) होते हैं। अनेक गच्छ होते हैं। परंतु कथंचित् परस्पर आचार भेद की संभावना होते हुए भी परस्पर विरोधी नहीं होते।"

-जिनाज्ञा

इस से यह सिद्ध होता है कि आचार भेद वालों को मिथ्यात्वी, बिचाराओ, ए शुं समझे

"ईन्हे श्वेताम्बर, दिगम्बर, नवम्बर, डीसंबर न कहकर मलिनांबर कहिए"

ऐसे शब्दों का प्रयोग करने वालों ने स्पष्ट तया जिनाज्ञा उल्लंघन का पाप अपने शिर पर लिया है। यह सिद्ध होता है।

वि.सं. १९०७ के उल्लेख में नेमिसागरजी पूर्ण अवधूत थे, प्रतिक्रमण में पूरे तीन घंटे लगते थे। साबरमती नदी पार करने में एक घंटा लगता। शेठ हठीसींग की ध.प. रुक्मिणिबाई ने अहमदाबाद पांजरापोल का उपाश्रय उनके वास्ते बनवाया था। किन्तु वे वहां न ठहरते हुए सुरजमल के डहेले के मकान में ठहरते थे। जो वर्तमान में आंबली पोल उपाश्रय के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने ही श्री पूज्य यतियों की आज्ञा लेना या उनको वंदन करने की परंपरा को तोड दिया था। जिससे दो पक्ष पड गये थे।

दो शब्द

उपदेश माला यानि उपदेशों के पुष्पों को इकट्ठे कर के गुंथी हुई जिन वाणी की माला। माला में अनेक प्रकार के पुष्प पीरोये जाते हैं वैसे ही इस उपदेश माला में प्रभु महावीर स्वामी उपदेशित अनेक प्रकार के उपदेशों के वचनों को एकत्रित किये हैं। समकित रूपी धागे में पीरोये हुए आचरणाओं के पुष्प तभी तक शोभनीक सुगंधित रहते हैं जब तक सम्यक्त्व रूपी धागा अखंडित है।

जिनशासन में समकित को ही धर्म का उत्पादक माना है। समकित के प्रकटीकरण के साथ धर्म का शुभारंभ होता है।

इस उपदेश माला का गठन वृद्धवादानुसार प्रभु श्री महावीर भगवान् के हस्त दीक्षित शिष्य श्री धर्मदास गणिवर्य हैं। जिन्होंने अपने पुत्र का भावी अनर्थ जानकर उसे धर्म में स्थिर करने के लिए इस ग्रंथ का निर्माण किया।

चतुर्विध संघ के लिए यह ग्रंथ अतीव उपयोगी साधन है। इस ग्रंथ पर अनेक पूर्वाचार्यों ने प्राकृत-संस्कृत में विवेचना की है।

हिन्दी गुजराती में अनुवाद भी छपे हैं। सर्व साधारण के लिए उपयोगी बनें इस हेतु आ.श्री भुवनभानु सूरीश्वरजी ने गुजराती में मूल-मूलानुवाद छपवाया था। उसीको देखकर हिन्दीभाषी आराधकों के लिए आराधना में उपयोगी बनें इस हेतु उसी का हिन्दी अनुवाद कर प्रकाशित किया है।

मु. श्री पद्मविजयजी (श्री वल्लभसूरिजी समुदाय) द्वारा श्री रामविजयजी कृत टीका का हिन्दी अनुवाद भी छपवाया है। पाठक गण लाभान्वित बनें।

यही,

सेरणा (जालोर) जयानंद

२०६४ द्वि. ज्येष्ठ सुदि १०

प्रतिष्ठा दिन

श्री उपदेश माला

"जीवन के साथ जीने की कला का संमिश्रण जीवन को प्रकाशमय बनाता है और जीनेकी कला बिना का जीवन अंधकारमय बनाता है, और अंधकार का पुनरावर्तन अनेक भवों तक चालु रहता है।"

"साधु का भोजन = ज्ञानार्जन"
"साधु का जलपान = क्षमा का जल"
"साधु का चलना = माता की प्रतिपालना"
"साधु का बोलना = कर्मो को खपाना"
"साधु का बैठना = आज्ञा की पालना"
"साधु का सोना = कषायों को सुलाना"
"साधु का खडा रहना = ध्यानाग्नि को जलाना"
"साधु का चिंतन = शास्त्रों का मंथन"

Raj arts Created By
rajarts2003@yahoo.co.in
94274 70773 A'bad